भारत का सीमांत

डा० जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए० पी-एच० डी०
प्रधान आचार्य हिन्दी विभाग
रामनारायण रुइया कालेज बम्बई

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२१ ए, चन्द्रलोक जवाहरनगर दिल्ली
बिक्री केन्द्र नई सड़क दिल्ली

© लेखक

प्रथम संस्करण
अक्तूबर, १९६१

मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
युगान्तर प्रेस मोरीगेट, दि

प्रस्तावना

२० अक्तूबर, १९६२ में भारत पर सशस्त्र चीनी आक्रमण होने के बाद भारत के सीमान्त की ओर दुनिया का ध्यान आकर्षित हुआ है।

हिमालय पर्वत को हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थों में नगाधिराज कहकर एक पवित्र तीर्थ माना गया है, और हमारे कवियों ने अपने गीतों में 'संतरी' कहकर बड़े गौरव के साथ इसका उल्लेख किया है—ऐसा संतरी जो बर्फ़ में खड़ा हुआ आँधी और तूफ़ान की परवाह न करता हुआ दिन रात हमारे देश का पहरा देता है। लेकिन दुर्भाग्य से आज हम अपने आपको बदली हुई परिस्थितियों में पाते हैं।

सीमांत में रहने वाले आदिवासियों का जीवन हमारे ही जैसा है। उनका रहन-सहन रीति-रिवाज जड़ी-बूटी झाड़-फूंक जंतर-मंतर, गीत-नृत्य लोकगीत और लोककथा आदि हम लोगों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। सन् १९४७ में भारत को आज़ादी मिलने के पश्चात्, इन जन-जातियों के विकास और उन्नति के लिए भारत सरकार ने बहुत कुछ किया है। लेकिन अधिकतर लोगों की यही राय है कि सीमांत में खास कर उपूसी (नेफ़ा) क्षेत्र में भारी परिवर्तन वांछनीय नहीं है। कारण कि संकटकालीन स्थिति में कोई भी बड़ी तबदीली वहाँ की स्थिति में गड़बड़ी पैदा कर सकती है जिससे प्रतिरक्षा सम्बन्धी समस्यायें बढ़ जाने की सम्भावना है। इस सबन्ध में भारत के प्रधान मंत्री पंडित नेहरू ने २९ मार्च १९६१ को लोकसभा में वक्तव्य देते हुए कहा है कि यदि भारत के अन्य भागों से अनियंत्रित रूप से लोग बड़ी तादाद में उपूसी क्षेत्र में प्रवेश करेंगे तो उपूसी और शेष भारत के बीच भावात्मक एकता कायम करने में रुकावट पैदा हो सकती है। इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर बस्तियाँ बसाने के मार्ग में सबसे बड़ी असुविधा यह है कि यहाँ की ज़मीन की मिलकियत का कोई लेखा-जोखा नहीं। यहाँ सामुदायिक आधार पर ही यहाँ के

रहने वालों का कब्ज़ा है और यहाँ की जन-जातियों को आशंका है कि यदि बाहर के लोग तराई में आकर बस जायेंगे तो फिर उनका अपनी ही भूमि पर अधिकार न रहेगा।

चीनी आक्रमण के संबंध में सारे तथ्यों को सामने रखते हुए वस्तुवादी दृष्टि से विचार करने का अब समय आ गया है, और इसके लिए गम्भीर अध्ययन और चिंतन की आवश्यकता है।

एक समय था जब 'हिन्दी चीनी भाई भाई' के नारे बुलन्द किये जाते थे। भारत का अपने पुराने पड़ौसी चीन के प्रति सदा से सहानुभूतिपूर्ण रुख रहा है। जब चीन की जनता ने मित्रता का हाथ बढ़ाया तो भारत की जनता ने उसे प्रेमविभोर होकर अपने गले लगा लिया। लेकिन चीन के आक्रमणात्मक व्यवहार के बाद परिस्थितियाँ बदल गई हैं। भारतीय जनता के हृदय में आक्रोश की भावना फैल गई है। चीनी आक्रमण से हमें नफ़रत है और उसके लिए हम चीनी सरकार को दोषी ठहराते हैं लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हम चीनी जनता को भी उसमें लपेट लें। चीनी आक्रमण के दो महीने पश्चात् २१ दिसम्बर, १९६२ को शांतिनिकेतन में चीना भवन का उद्घाटन करते हुए पंडित नेहरू ने कहा था—'भारतीय जनता तथा भारत सरकार चीन की सरकार की कतिपय बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष कर रही है, चीनी जनता तथा चीनी संस्कृति से हमारा कोई संघर्ष नहीं।" दरअसल इस समय अधिकाधिक आवश्यकता इस बात की है कि चीनी हमले के खिलाफ़ हम जनमत को दृढ़तापूर्वक संगठित कर राष्ट्रीय भारतीय फ़ौज का निर्माण करें।

आशा है इस पुस्तक को पढ़कर भारत का सीमांत और उस पर होने वाले चीनी आक्रमण के संबंध में पर्याप्त जानकारी मिल सकेगी। इस दृष्टि से हिन्दी में अपने ढंग की यह पहली पुस्तक होगी।

२८ शिवाजी पार्क
बम्बई २८

जगदीशचन्द्र जैन

विषय क्रम

चित्र

महावीर अधिकारी को

आभार

इस पुस्तक के कुछ लेख 'नव भारत टाइम्स' बम्बई के रविवारीय संस्करण में प्रकाशित हुए थे जिन्हें संशोधन और परिवर्तन के साथ आभारपूर्वक यहां दिया गया है।

पुस्तक को लिखते समय अधिकतर अंग्रेजी और कुछ हिन्दी की पुस्तकों से सहायता ली गई है, एतदर्थ लेखक उन सब पुस्तकों के लेखकों का आभारी है। इसके सिवाय शिलांगस्थित नेफा के रिसर्च विभाग के कल्चरल रिसर्च आफिसर, तथा बंबईस्थित भारत सरकार के प्रेस इन्फॉर्मेशन ब्यूरो के डिप्टी प्रिंसिपल इन्फॉर्मेशन आफिसर के प्रति भी लेखक आभार प्रदर्शित करता है जिन्होंने कृपा करके आवश्यक चित्र और मानचित्र भेज कर सहायता की।

—लेखक

१

भारत का उत्तर-पूर्वी राज्य—असम

जादू-टोने का प्रदेश

असम प्राचीन काल में प्राग्ज्योतिष और मध्ययुग में कामरूप के नाम से प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन शास्त्रों में असम की महिलाओं के रूप-सौंदर्य की प्रशंसा की गयी है। कहते हैं कि वे बड़ी जादूगरनी होती थीं तथा पुरुष को बकरा या मेमना बनाकर छोड़ देती थीं। कामरूप में कभी केवल स्त्रियों का ही राज्य था। एक बार कोई संथाल वहाँ पहुँच गया और वहाँ की स्त्रियों ने उसे पकड़कर ५ वर्ष तक रखे रखा। दिन में उसे वे बाँस की एक टोकरी में छिपा देतीं और रात को जादू की शिक्षा देतीं। जब उन्होंने संथाल को अपनी कला में दीक्षित कर लिया तो उसे चील बनाकर उसके देश को उड़ा दिया।

असम की मिरि नाम की पहाड़ी जाति की लोककथाओं में भी इस प्रकार की एक कहानी आती है। पर्वतों से आच्छादित मियूमाम नाम के देश में केवल स्त्रियाँ ही रहती थीं। भूला भटका कोई पुरुष यदि वहाँ पहुँच जाता तो वहाँ की स्त्रियों में बड़ा झगड़ा होता। जो स्त्री ताकतवर होती, वह उसे अपने पास ले जाती। उसे वह बड़े सम्मानपूर्वक रखती और स्वादिष्ट भोजन खिलाती। बहुत समय के पश्चात् जब वह पुरुष वहाँ



भारत का उत्तर-पूर्वी प्रदेश असम

से लौटता तो उसे कीमती तलवार और मालाएं देकर विदा किया जाता जिससे कि उसके देश के अन्य पुरुष भी आकृष्ट हो कर यहां आने के लिए लालायित हों।

बौद्धकाल में यह स्थान तांत्रिकों का अड्डा था, इसलिए भी यहां जादू-टोने का जोर रहना स्वाभाविक है। यहां के कामाख्या मंदिर में दस महाविद्याओं की मूर्तियां स्थापित हैं। ७वीं सदी में चीनी यात्री ह्युएनसांग यहां आया था। उसने असम की हवा, विषैली भाप, घातक सर्प और संहारक वनस्पति

की मृत्यु का कारण बताया है।

भौगोलिक स्थिति

असम भारत के एकदम उत्तर-पूर्व में बसा हुआ है। इस उत्तर-पूर्वी प्रदेश में असम के साथ उपूनी (नेफा), नागालैंड मनीपुर और त्रिपुरा भी शामिल हैं। असम अपने बियाबान जंगलों के कारण कुख्यात है। यहाँ के पहाड़ों में कीमती पत्थर और चाँदी पायी जाती है, और स्वच्छ जल से पूर्ण अनगिनत नदियाँ यहाँ बहती हैं जिनमें सोने के कण पाये गये हैं, और जिनके वक्षस्थल पर लोहे के पुल बने हुए हैं। दुनिया की सुप्रसिद्ध ब्रह्मपुत्र नदी की भयंकर बाढ़ से यहाँ लाखों-करोड़ों रुपये का नुकसान हो जाता है। नदी का पाट अत्यन्त विशाल है, इसकी धाराएँ बीच-बीच में अलग हो जाती हैं, लेकिन आगे जाकर तुमुल-नाद करती हुई फिर एक साथ बहने लगती हैं। नदी के किनारों पर दलदल ही दलदल दीख पड़ती है, कुछ दूर चलने पर समतल मैदान आते हैं जिनमें चावल की खेती होती है। बीच-बीच में खड़े हुए ताड़ के पेड़ प्राकृतिक सौंदर्य को द्विगुणित कर देते हैं। चाय के बगीचे यहाँ की विशेषता हैं। पहाड़ों की उर्वरा जमीन में चाय पैदा होती है। चाय के बगीचों में यहाँ लगभग छः लाख मजदूर काम करते हैं। असम राज्य की वार्षिक आय लगभग साढ़े तीन अरब है, जिसका अधिकांश भाग इंग्लैण्ड आदि विदेशों में अपने वाली चाय की बिक्री से ही प्राप्त होता है। इसके अलावा रेशम कपास, कॉफी और शक्कर भी यहाँ बड़ी मात्रा में पैदा होती है। कोयला और

ठेस जीवन की दो आवश्यक वस्तुएँ हैं और ये दोनों यहाँ बहुतायत से होती हैं।

ब्रह्मपुत्र घाटी ५०० मील लम्बी और ५० मील चौड़ी है। इसके उत्तर में हिमालय पहाड़ है और उत्तर-पूर्व में यह चीन के सीमाप्रान्त तक फैली हुई है। इसके दक्षिण में गारो, खासी और जयन्तिया नाम की पहाड़ियाँ हैं जहाँ घोर वर्षा होती रहती है। ये पहाड़ियाँ असम को बर्मा से अलग करती हैं। १९४७ ई में हिन्दुस्तान का बँटवारा होने के बाद बीच में पूर्वी पाकिस्तान आ जाने से भौगोलिक दृष्टि से, हिन्दुस्तान से यह राज्य अलग पड़ गया है पैंतीस मील लम्बी एक सँकरी दहलीज इसे पश्चिमी बगाल से मिलाती है। इससे असम राज्य की यातायात-व्यवस्था और उसके वनिज-व्यापार पर काफ़ी असर पड़ा है। पहले यहाँ के व्यापारी सिलहट और मैमनसिंह के आसपास के प्रदेशों के साथ व्यापार किया करते थ, लेकिन अब ये दोनों स्थान पाकिस्तान में चले गये हैं।

असम की राजधानी शिलांग

असम राज्य की जनसंख्या लगभग सवा करोड़ है। नागालैंड को मिला कर इसमें १२ जिले हैं। नागालैंड, जिसमें त्वेनसांग का प्रदेश भी शामिल है अभी कुछ समय से स्वायत्त शासन करने वाला प्रदेश बना दिया गया है, यह असम के राज्यपाल के अधीन है।

शिलांग असम की राजधानी है जो खासी-जयन्तिया पहाड़ियों पर प्राय चार हजार फुट की ऊँचाई पर बसा हुआ

है। यहीं से सारे राज्य की शासन-व्यवस्था चलती है। लेकिन रेल की सुविधा न होने के कारण यह स्थान अधिक प्रकाश में न आ सका। गोहाटी तेजपुर, डिब्रूगढ़ और सिलचर यहाँ के महत्वपूर्ण कस्बे हैं। बाँस, सागवान, कटहल सुपारी और आम के पेड़ यहाँ-वहाँ नजर आते हैं। तेजपुर की गायें कद में छोटी और कम दूध देने वाली होती हैं, हाँ बकरे काफी बड़े होते हैं। उपूसी प्रदेश में प्रवेश करने के लिए तेजपुर से जाना पड़ता है।

मुगलों का आक्रमण

बादशाह औरंगजेब सन् १६५८ में दिल्ली के तख्त पर बैठा तब सन् १६६२ में उसने बंगाल के गवर्नर मीरजुमला को असम फतह करने भेजा। मीरजुमला शाहबुद्दीन और मुल्ला दरवेश नाम के दो विद्वानों को भी अपने साथ ले गया था। इन्होंने प्राकृतिक सौन्दर्य से रमणीय असम के इन पहाड़ी प्रदेशों का जो सजीव वर्णन किया है, उससे यहाँ की भौगोलिक और सामाजिक स्थिति का परिचय मिलता है। मीरजुमला गरगाँव पहुँचकर नौ महीने रहा। उस समय असम में राजा जयध्वज (१६४८ १६६३ ई०) राज्य करता था। जयध्वज नागा-हिल्स में जा छिपा लेकिन मौका पाते ही वर्षा ऋतु आने पर उसने मुस्लिम फौज पर धावा बोल दिया। दुर्गम पहाड़ी प्रदेशों की यात्राएँ कर-करके मुस्लिम सेनाएँ थक गयी थीं रसद की भी कमी थी, इसलिए मीरजुमला ने अहोम के राजा से संधि कर ली और वह बंगाल लौट गया। कुछ दिनों बाद

औरंगजेब ने राजा मानसिंह के पुत्र रामसिंह को असम पर चढ़ाई करने भेजा लेकिन वह भी यहाँ के मौसम से घबराकर वापस आ गया।

अहोम वंश का राज्य

असम में अहोम राजाओं का राज्य सन् ११२४ से लगाकर १८३५ तक यानी अंग्रेजों के हिन्दुस्तान आने तक चला था। सन् १६८२ में राजा गदाधरसिंह (१६८१-१६९६ ई०) ने यहाँ राज्य किया और फिर उसके बाद मुगल बादशाहों की कोई चढ़ाई नहीं हुई। गदाधरसिंह बड़ा कठोर शासक था जिन लोगों से वह खतरा समझता उन्हें भयंकर से भयंकर *दण्ड देने से नहीं चूकता था।*

जोरहाट अहोम राजाओं की अन्तिम राजधानी थी। इस समय पहाड़ियों में रहने वाली जन-जातियों के अनेक उपद्रव हुआ करते थे, उन्हें वश में करने के लिए अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करना पड़ता था। ये लोग पहाड़ों से मैदानों में आकर मार काट और लूटपाट करते तथा आदमियों और बच्चों को उठा ले जाते। जब मीरजुमला यहाँ आया तब सुवानसिरि के जोर दार डाफलों के उपद्रव *जारी थे अहोम राज्य पर वे दखल* करना चाहते थे। इन लोगों को वश में करना उतना ही मुश्किल था जितना किसी हाथी को चूहे के बिल में घुसेड़ देना। राजा उदयादित्य सिंह ने उन्हें दंडित करने का प्रयत्न किया लेकिन उसे सफलता न मिली। भारत में अंग्रेजों के पदार्पण करने से पहले नेफा में रहने वाली जन-जातियों का यही इतिहास है।

असम की वीर जातियाँ

इतिहास बताता है कि कितनी ही जातियों ने असम की भूमि में प्रवेश किया लेकिन कोई आततायी विदेशी जाति यहाँ पैर न जमा सकी। यहाँ की रणबाँकुरी जातियों ने निरन्तर उनका मुकाबला कर उन्हें परास्त किया। परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी सीमांत की भाँति भारत का उत्तर-पूर्वी सीमांत आक्रमणकारियों के लिए नहीं खुल सका।

२

भारत का सीमा प्रदेश—उपूसी (नेफा)

नेफा सम्बन्धी जानकारी

जब से चीनी सेना का हिन्दुस्तान की सीमा पर आक्रमण हुआ तब से दुनिया की नजर नेफा पर लगी हुई है। दुर्भाग्य से ३०,५०० वर्गमील में फैले हुए लगभग ४ लाख की आबादी वाले इस प्रदेश में कौन-सी जातियाँ निवास करती हैं, कब से निवास करती हैं क्या उनकी संस्कृति है, और चीनी सरकार कब से इस प्रदेश पर अपने अधिकार का दावा करने लगी है आदि बातों के सम्बन्ध में हमें पर्याप्त जानकारी नहीं है। बहुत-से लोग तो नागा-हिल्स को ही नेफा समझते हैं जबकि तिराप इलाके के निवासी नागा लोग नेफा की जनसंख्या के केवल पाँचवें हिस्से के बराबर हैं।

दरअसल ब्रिटिश सरकार ने सन् १८७३ में ही 'आन्तरिक पंक्ति अधिनियम' (इनर लाइन रेगुलेशन) पास करके इस प्रदेश को अलग कर दिया था जिससे कि बाहर के लोग यहाँ प्रवेश न कर सकें। भारत के यात्रियों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये गए थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रथम गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी (१८४८ १८५६ ई०) ने कहा था—"इन जंगली जातियों और इनकी बंजर पहाड़ियों को लेकर हमें क्या करना है? इनका तो राजनीतिक बहिष्कार ही

करना चाहिए।" ऐसी हालत में नेफा के सम्बन्ध में कम जानकारी होना आश्चर्य की बात नहीं है।

मुल्ला दरवेश का आँखों-देखा वर्णन

आज से ३०० वर्ष पहले हिरात के मुल्ला दरवेश ने उपरी प्रदेश का आँखों-देखा बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। वे लिखते हैं—"यह दुनिया ही दूसरी है दुनिया से अलग किस्म के लोग यहाँ रहते हैं उनके रस्म-रिवाज बिल्कुल दूसरे हैं। यहाँ की जमीन हमारे देश जैसी नहीं यहाँ का आसमान हमारे आसमान जैसा नहीं। आसमान में बादलों के बिना ही यहाँ वर्षा होने लगती है, मिट्टी के बिना ही जमीन से हरी हरी घास के अंकुर फूटने लगते हैं। यह प्रदेश सारी दुनिया से न्यारा है। दूसरी जगह जब सारी ऋतुएँ समाप्त हो जाती हैं तब ऋतुओं का यहाँ आरम्भ होता है। हमारे देश में जब शीत ऋतु आती है तब यहाँ ग्रीष्म ऋतु रहती है, और हमारे यहाँ जब ग्रीष्म ऋतु आती है तब यहाँ सर्दी पड़ती है। यहाँ के मार्ग इतने भयंकर और बीहड़ हैं कि मानो हमें मृत्यु की ही ओर खींच कर ले जायेंगे। यहाँ का विस्तार जीवन के लिए संहारक है मालूम होता है जैसे विनाश का कोई निर्जन नगर हो। यहाँ की पहाड़ियों को आच्छादित करने वाली वन-पंक्ति नासमझ पुरुषों के हृदय की भाँति हिंसा से भरी पूरी है। नदियाँ यहाँ की सीमा विहीन हैं और समझदार लोगों के मस्तिष्क की भाँति उनका फैलाव है।'

हिम से आच्छादित पर्वत मालाओं नदी-नालों, बीहड़

जंगलों और हरी भरी वन-पंक्तियों से शोभित, प्राकृतिक सौन्दर्य से वेष्टित नेफा का रम्य प्रदेश वैधानिक रूप से असम का एक हिस्सा है, और भारत सरकार के वक्तव्य के अनुसार जब वह पर्याप्त रूप से विकास की अवस्था प्राप्त कर लेगा, तब उसे असम में ही मिला दिया जाएगा। आजकल नेफा का शासन भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय की ओर से, असम के राज्यपाल की सहायता से किया जाता है। राज्यपाल भारत के राष्ट्रपति के एजेंट हैं। यहां का शासन-सूत्र राज्यपाल के सलाहकार के हाथ में है और शिलांग में बैठ कर वे अपना शासन चलाते हैं।

भौगोलिक स्थिति

नेफा के पश्चिम में भूटान, उत्तर-पूर्व में तिब्बत और सिक्यांग, तथा दक्षिण-पूर्व में बर्मा की सीमाएँ हैं। ये सीमाएँ तीनों ओर से दुर्गम पहाड़ियों से घिरी हुई हैं, इसलिए भूटान, तिब्बत, सिक्यांग और बर्मा में रहने वाले लोगों से नेफा की जातियों का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका। ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्तों से यह प्रदेश घिरा हुआ है, इसलिए हवाई-जहाज को नीचे उतरने की जगह पाना भी यहां मुश्किल है। ऐसी हालत में, यातायात के साधनों के अभाव में, जरूरत पड़ने पर सेनाओं आदि के लिए यदि कोई आवश्यक सामान भेजना हो तो उसे ऊपर से हवाई-जहाज से गिराने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है। यहां के जन-जातीय मामलों में भारत सरकार के सलाहकार डाक्टर वैरियर एलविन ने लिखा

है कि यदि आप इस क्षेत्र में एक महीना घूम फिर लें तो ऐसा लगेगा कि ३० हजार फुट ऊँचे एवरेस्ट की चोटी से भी ऊपर चढ़ गए हैं।

पाँच भाग

नेफा आजकल पाँच भागों में विभक्त है —कामेंग (२,००० वर्गमील), सुवानसिरि (७,६५० वर्गमील), सियांग (८,३१२ वर्गमील), लोहित (५ ८०० वर्गमील) और तिराप (२,६५७ वर्गमील)। ये पाँचों पहाड़ी प्रदेश ब्रह्मपुत्र की असम की घाटी को घोड़ों की नाल की भाँति घेरे हुए हैं। कामेंग असम के पश्चिम में सुबानसिरि उत्तर-पश्चिम में, सियांग उत्तर में, लोहित उत्तर-पूर्व में और तिराप पूर्व में है। इन प्रदेशों में अनेक वन-वासियाँ निवास करती हैं जो भिन्न भिन्न रीति रिवाजों को मानती हैं, तिब्बत-बर्मी परिवार की विविध भाषाएँ और बोलियाँ बोलती हैं, तथा अपनी सामाजिक आदतों, पोशाकों आदि में एक-दूसरे से भिन्न हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से सियांग सबसे बड़ा है। इसके मध्य भाग में घनी आबादी है। उत्तरी सुबानसिरि और लोहित में नदियों की घाटियों में दूर-दूर बसे गाँवों में ही लोग दिखायी पड़ते हैं। सुबानसिरि में २०० इंच वर्षा होती है। कामेंग अपनी सी-ला पहाड़ी के लिए प्रसिद्ध है। यह पहाड़ी लगभग १४ ००० फुट ऊँची है। हिमालय की चोटी से जब यहाँ हड्डियों को भेदने वाली बर्फीली हवा चलती है तब लगता है कि कोई चाकू से बदन के टुकड़े कर रहा है। इतनी ऊँचाई पर पहुँच कर यदि कोई किसी

प्रकार का ज़रा भी उद्यम करे तो फेफड़े फटने लगते हैं। और तो क्या, हवा पतली होने के कारण हेलिकाप्टर तक को उड़ने में कठिनाई होती है। तेजपुर से यह स्थान ७० मील दूर, और लगभग ३ मील ऊँचा है। अच्छी जीप द्वारा यहाँ तक पहुँचने में १८ घंटे लग जाते हैं। झाड़-झखाड़ों चट्टानों और अन्तहीन दर्रों से बच कर यदि सकुशल पहुँच गये तो समझिये कि दूसरा जन्म हुआ है।

लोहित और कामेंग की प्राचीनता

लोहित और कामेंग अत्यन्त प्राचीन प्रदेश हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार शान्तनु ऋषि अपनी पत्नी के साथ लोहित सरोवर के किनारे रहते थे। यहाँ उनके एक पुत्र हुआ। इस पुत्र को जिस स्थान पर रखा गया वह ब्रह्मकुण्ड या देवपाणि कहलाया और यही फिर लोहित नदी का उद्गम स्थान हुआ।

लोहित राजा भीष्मक की राजधानी थी, और भीष्मक की कन्या राजकुमारी रुक्मिणी कृष्ण को दी गयी थी। वसे रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से होना निश्चित हुआ था, लेकिन रुक्मिणी कृष्ण से प्रेम करती थी। रुक्मिणी का संदेश पाकर कृष्ण अपनी प्रेमिका को अपने साथ लेकर चले गये थे।

यहाँ ताम्रेश्वरी देवी का प्रसिद्ध मन्दिर है, जो कभी बहुत बड़ा तीर्थस्थान रहा होगा। कहते हैं कि यहाँ परशुराम का आगमन हुआ था और अपने फरसे से पहाड़ी को काट कर उन्होंने रास्ता बनाया था। कामेंग में भरेली नदी के तट पर भलुकपौंग किले के ध्वंसावशेष नजर आते हैं। यह किला

भाकासी लोगों के पूर्वज बाणासुर के पोते भसुक का निवास स्थान बताया जाता है। बाणासुर को तेजपुर में कृष्ण ने युद्ध में पराजित किया था। उषा बाणासुर की रूपवती कन्या थी। एक बार, रात्रि के समय उसने स्वप्न देखा कि कोई सुन्दर राजकुमार उसके पास आया है। अगले दिन उसकी सखी चित्रलेखा ने एक-से एक सुन्दर राजकुमारों के चित्र बना कर उषा के सामने उपस्थित किये। अन्त में जब कृष्ण के सुपुत्र अनिरुद्ध का चित्र बनाया गया तब राजकुमारी ने उसे पहचान लिया और कहा कि बस, यही मेरा राजकुमार है। अनिरुद्ध को किसी प्रकार द्वारका से तेजपुर लाया गया लेकिन कन्याओं के अन्तःपुर में एक परदेसी की उपस्थिति कैसे सहन की जा सकती थी! राज-कर्मचारियों ने अनिरुद्ध को पकड़ कर जेल में डाल दिया। कृष्ण के पास जब यह समाचार पहुंचा तब वे वहाँ उपस्थित हुए। कृष्ण और बाणासुर में युद्ध हुआ, जिसमें बाणासुर की हार हुई। उषा और अनिरुद्ध एक-दूसरे को पाकर बहुत प्रसन्न हुए।

तेजपुर का अर्थ है 'खून का नगर'। हो सकता है कि इस प्रकार के और भी खूनी युद्ध वहाँ हुए हों और तब से यह नगर तेजपुर नाम से पुकारा जाने लगा हो।

नेफा पर अंग्रेजों का अधिकार

अंग्रेज हमारे देश में आये थे तिजारत करने, लेकिन उनके मन में साम्राज्य जमाने की लिप्सा जाग उठी। उधर असम के अहोम राजाओं के आपसी लड़ाई झगड़ों के कारण असम पर

मियों का अधिकार हो गया और सन् १८२५ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपनी कूटनीति से अपर बर्मा पर कब्ज़ा कर लिया। इसके बाद, सन् १८२६ में, यानदेबो की संधि के मुताबिक बर्मा के राजा ने असम को अंग्रेज़ों के हवाले कर दिया। लेकिन पुरेन्द्रसिंह अहोम राजाओं की गद्दी का हकदार था इसलिए उसे अपर असम का राजा बना दिया गया। शर्त यह थी कि ५०,००० रुपया वार्षिक ईस्ट इंडिया कम्पनी को उसे देना पड़ेगा। लेकिन शर्त पूरी न हो सकी राजा को गद्दी से उतार दिया गया और सन् १८३८ में असम का शासन अंग्रेज़ों के हाथ में पहुँच गया।

असम पहले ही छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था इसलिए अंग्रेज़ों के आने से पहाड़ों में रहने वाली आदिवासी जातियों में अरक्षा का भाव बढ़ गया। यात्रियों का आना जाना कम हो गया और ब्रह्मकुण्ड आदि तीर्थों के दर्शन के लिए जाने वालों की संख्या घट गई।

युरोपियन अफ़सरों और मिशनरियों का दौरा

ईस्ट इंडिया कम्पनी के संरक्षण में अनेक युरोपियन अन्वेषकों, अफ़सरों मिशनरियों सिपाहियों और व्यापारियों ने इस प्रदेश का दौरा कर अपने असीम साहस का परिचय दिया। इनमें लेफ्टिनेंट विलकोक्स विलियम ग्रिफेथ मेजर वटलर कैप्टन डाल्टन, कैप्टन कूपर और फादर क्रिक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

लेफ्टिनेंट विलकोक्स असम का 'सर्वे' करने आये और

१८२५ १८२८ ई० तक ये अपना कार्य करते रहे। १८२६ ई० में उन्होंने मिसमी क्षेत्र का दौरा किया। तत्पश्चात् वनस्पतिविज्ञान के विशेषज्ञ विलियम ग्रिफेथ १८३२ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी में सहायक सर्जन के पद पर नियुक्त हुए। उन्होंने खासकर चाय की पदावार बढ़ाने के उद्देश्य से असम का दौरा किया। १८३६ ई० में उन्होंने मिसमी पहाड़ी की यात्रा की। अपनी इस यात्रा में उन्हें असह्य तकलीफें सहन करनी पड़ीं और केवल ३५ वर्ष की अवस्था में उनका देहावसान हो गया। मेजर बटलर १८३७ ई० में यहाँ आये। कलकत्ता से सैक्वा तक उन्होंने ६५ दिन की लम्बी यात्रा की। पहले, ३७ दिन के अन्दर वे असम की राजधानी गोहाटी पहुँचे फिर वहाँ से नाव द्वारा ब्रह्मपुत्र की यात्रा कर सैक्वा में उतरे। यहाँ पर चाय बागान की रक्षा में संलग्न रहते हुए घास-फूस की बनी झोपड़ी में वे अपना जीवनयापन करने लगे। एक बार एक भयंकर अजगर उनकी झोपड़ी में घुस आया, जिसे देखते ही उनके होश-हवास गुम हो गये। ब्रह्मपुत्र की बाढ़ से तो न जाने कितनी बार उनकी झोपड़ी बह गई! इस प्रकार जीवन के २० वर्ष उन्हें घोर संकट में गुजारने पड़े। ऐसी विषम परिस्थिति में उनका असम को 'जंगली असभ्य और विदेशी भूमि' कह कर उल्लिखित करना अधिक अस्वाभाविक नहीं लगता। कैप्टन ई० टी० डाल्टन ने १८५५ ई० में असम के गवर्नर जनरल के एजेन्ट के प्रधान सहायक के पद पर कार्य किया। इस काल में अबोर के मेम्बू स्थान का उन्होंने दौरा किया। कैप्टन डाल्टन अपनी

'डिसिक्रिप्टिव एथनोलाजी ऑफ बंगाल' नाम की खोजपूर्ण पुस्तक के लिए प्रसिद्ध हैं। इसके प्रकाशन के लिए सरकार की ओर से दस हजार रुपये दिये गये थे। एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की ओर से पुस्तक का प्रकाशन हुआ। कैप्टन कूपर एक अत्यन्त साहसी और धर्मशील व्यक्ति थे। डाल्टन के वे परम मित्र थे और १८५१ ई० में वे हिन्दुस्तान आये थे। कूपर शुरू से ही भ्रमण के शौकीन थे, और देश विदेश की उन्होंने यात्रा की थी। १८६८ ई० में चीन से तिब्बत होकर उन्होंने पैदल हिन्दुस्तान पहुँचने का प्रयास किया, लेकिन चीनी सरकार ने उन्हें जाने की इजाजत नहीं दी। उधर से जब वे सफल न हुए तो एक वर्ष बाद उन्होंने हिन्दुस्तान होकर पैदल ही चीन पहुँचने की कोशिश की। लेकिन अब की बार फिर उन्हें बीच से ही लौट आना पड़ा। १८७६ ई० में वे पॉलिटिकल एजेन्ट बनकर हिन्दुस्तान आये, और दुर्भाग्य से उनके ही किसी सिपाही ने उनसे बदला लेने के लिए उनकी हत्या कर दी। जे० एरोस ये चाय के बगीचों के मालिक थे। असम के चाय के व्यापार को वे सीमाप्रान्त के बाहर फैलाना चाहते थे। १८६१ ई० में भारत की ब्रिटिश सरकार ने इस सम्बन्ध में सलाह-मशवरा करने के लिए उन्हें आमंत्रित किया था।

इसके सिवाय लफ्टिनेंट रोसेट, काउ, बुकथीप, हरमन आदि अनेक युरोपियन अफसर इस क्षेत्र में आते-जाते रहे। इनमें फ्रांसीसी मिशनरी फादर क्रिक का नाम खासतौर से उल्लेखनीय है। १८५० ई० में वे दक्षिणी तिब्बती मिशन के

यह पादरी बनकर हिन्दुस्तान आये। पहले वे गोहाटी पहुँचे और फिर ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे-किनारे मिशमी पहाड़ियों में से गुज़र कर उन्होंने तिब्बत-यात्रा की ठानी। अपना पवित्र नाम अपनी बांसुरी और दवाइयों की पेटी लेकर वे पदल ही चल पड़े। सेंग्वा पहुँचने पर उन्हें एक खम्पटी सरदार मिला और उसकी सहायता से वे मिजुस पहाड़ में से आगे बढ़ते गए। फादर क्रिक की रोमांचकारी यात्रा का वर्णन उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

'मेरे सारे शरीर को उन्होंने जंगली पत्तियों से ढक दिया और व गाने-बजाने लगे। भूत प्रेत के पैशाचिक प्रभाव से वे मेरी रक्षा करना चाहते थे। मुझे जयल स ले जाया गया। मैं बाणों से बिंधी राक्षस-मूर्तियों से शामिल तोरण न होकर गुज़रा। यह मेरे शरीर से भूत प्रेत झाड़ने का प्रयत्न था। स्त्री, पुरुष और बाल-बच्चे सभी मुझे देखने के लिए एकत्रित थे। आदमी ही नहीं भौं भौं करते कुत्ते भी भीड़ की शोभा बढ़ा रहे थे। मैं आगे आगे चल रहा था और भीड़ मेरे पीछे। मुझे एक ऐसे स्थान पर ले जाया गया जहाँ सब लोग मरी बाट जोह रहे थे। ग्राम कोलाहल से गूँज रहा था और दावत के लिए उपस्थित अतिथियों का अट्टहास कानों को बधिर बना रहा था। सब क सब उत्कण्ठा स मुझे देखने क लिए लालायित थे। इस प्रकार सारी रात बीत गई। अगले दिन गाँव की सभा हुई। एक बड़ भवन क बीचों-बीच गाँव क मुखिया बठे थे। घास का एक शिरस्त्राण मेरे सिर पर बाँध दिया गया, उसे लाल रंग से रंगे हुए बकरे क बालों से

सजाया गया फिर मेरे मस्तक पर सुग्रर के दो दांत रखे गये। तत्पश्चात्, गाँव के मुखियाओं की घोषणा सुनाई पड़ी—'सब ठीक है, तुम्हें हमारे देश में प्रवेश करने की अनुमति है।' '

फादर क्रिक एक धार्मिक व्यक्ति ही नहीं, एक कुशल डाक्टर भी थे। उनकी चिकित्सा से जब रोगी स्वास्थ्य लाभ करने लगे तो गाँव के लोग बड़े प्रसन्न हुए और सब जगह उनकी प्रशंसा ही प्रशंसा सुनायी देने लगी। उन्हें घर बनवा देने का आश्वासन दिया गया और लोग उनसे वहीं रहने का अनुरोध करने लगे।

इस बीच में, कुछ दिनों बाद, एक अफवाह सुनाई दी कि फादर क्रिक अंग्रेजों के भेदिया हैं और वे ऐसे बलवान हैं कि उनकी इच्छा-शक्ति से स्वादिष्ट भोजन भी विष में परिणत हो जाता है। यह सुनकर गाँव भर के लोग उनसे असन्तुष्ट रहने लगे। उनसे तिब्बत से चले जाने के लिए कहा गया।

संयोग की बात, इन्हीं दिनों गाँव में आग लग गई। सबसे आश्चर्य की बात यह थी कि गाँव के लोग पानी से आग बुझाने के बजाय तलवारों के हाथ दिखा रहे थे जिससे कि आग के प्रेतों को नेस्तनाबूद कर दिया जाये। पास में खड़ी हुई स्त्रियाँ अपने पतियों के साहसपूर्ण पुरुषार्थ की सराहना कर रही थीं। दो घरों को छोड़कर सब घर जल कर खाक हो गये। जले हुए घरों के चारों ओर बाड़ बनाकर उन पर आग के प्रेत को भगाने के चित्र बना दिये गये थे। लोग सोच रहे थे, प्रेत कहीं छिपकर तो नहीं बैठ गया। इसलिए गाबे-

बाजे के साथ, अस्त्र-शस्त्र के पराक्रम द्वारा, उसे मार भगाने का प्रयत्न किया जा रहा था।

अस्तु, फादर क्रिक को गाँव छोड़कर चले जाने का हुक्म मिल गया। और हुई कि वे जिम्मा लौट आये! गाँव के जिन रोगियों को उन्होंने अच्छा किया था उनकी यह दुआ ही समझनी चाहिए!

फादर क्रिक तिब्बत से लौट तो आये लेकिन अपनी यात्रा से वे असन्तुष्ट ही रहे। १८५४ ई० में फिर से उन्होंने फादर बुरी को साथ लेकर, तिब्बत-यात्रा का दृढ़ संकल्प किया। उन्होंने मार्ग-दर्शक के रूप में मिशमी जाति का एक आदमी लिया। लेकिन मौसम खराब था इसलिए वह दूर तक न जाकर रास्ते से ही वापस लौट गया। उसके बाद फादर क्रिक ने कैस नाम के एक मिशमी मुखिया को यो यू दर्रे पर ले चलने को कहा और वहाँ पहुँचा देने पर उसे रुपया और बन्दूक इनाम में देने का वादा किया। लेकिन धोखे से कोई दूसरा ही व्यक्ति इस इनाम को ले उड़ा। फादर क्रिक को इस रहस्य का पता न लगा और इसीलिए कैस के घर जाने की उन्होंने कोई जरूरत नहीं समझी। यह देखकर कैस को बहुत क्रोध आया और यो यू दर्रे पर पहुँचने के पहले ही उसने दोनों पादरियों को जान से मार डाला।

भारत के लावारिस राजाओं की रियासतों को ईस्ट-इण्डिया कंपनी के राज्य में मिलाने वाला लार्ड डलहौजी इस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी का गवर्नर जनरल था। वह भला कैसे चुप बैठ सकता था? उसने लेफ्टिनेंट एडेन की सेना की एक टुकड़ी

के साथ फौरन कूच करने का आदेश दिया। आठ दिन तक यह टुकड़ी पहाड़ों और बीहड़ जंगलों में कूच करती हुई आगे बढ़ी। खतरनाक नदियों के बेंत के बने हुए पुलों को इस टुकड़ी के सिपाहियों ने फूल फूलकर पार किया और पहाड़ों को लांघते समय कड़ाके की सर्दी में घंटों तक उन्हें बिना अन्न और पानी के रहना पड़ा। लेकिन सेना अपने अभियान में सफल हो गयी। कैंस को पकड़कर डिब्रूगढ़ लाया गया और उसे फांसी पर लटका दिया गया।

नेफा-निवासियों के प्रति अंग्रेजों की भावना

ऐसी एक नहीं और भी हत्याएँ इस प्रदेश में हुईं। लेकिन उसका मुख्य कारण यही था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने यहाँ की जन-जातियों की परिस्थितियों और समस्याओं पर कभी गंभीरता से विचार नहीं किया। उल्टे, जिन अधिकारियों ने इस प्रदेश का दौरा किया उन्होंने यहाँ के आदिवासियों को असभ्य बर्बर, जंगली हत्यारे, डाकू, विश्वासघाती क्रूर, डण्डे की मार से वश में आने वाले मूर्ख और गन्दे आदि कहकर ही ढिंढोरा पीटा। डलहौजी स्वयं इन जातियों को 'सरदर्द' कहा करता था। अंग्रेज रमणियों के पतिदेवों को जब कभी किसी अभियान पर जाना पड़ता तो वे कह उठतीं कि यह कितनी सरदर्दी है कि उन्हें वृक्षों के समान जड़ और अजीब आदतों वाली महामूर्ख जङ्गली जातियों के साथ रहने जाना पड़ रहा है।

ऐसी हालत में नेफा निवासियों की अंग्रेजों के प्रति

भावना कैसे रह सकती थी ? लोहित क्षेत्र में बसने वाले खम्प्टी लोगों की बन्दूक के लाइसेंस छीन लिये गये नतीजा यह हुआ कि उन्होंने सादिया की ब्रिटिश दुर्ग रक्षक सेना पर धावा बोल दिया और लैफ्टिनेंट ह्वाइट की हत्या कर डाली । सियांग की धाम्नि जाति सिंगफो और माणा आदि जातियों के भी उपद्रव होते रहे जिनके कारण अंग्रेजों को काफी क्षति उठानी पड़ी । लेकिन प्रश्न यही था कि इन लोगों को कैसे वश मे किया जाये । गिरफ्तार करके बन्दी बनाये हुए लोगों को छुड़ाने के लिए, हत्या का बदला लेने के लिए, और अपराधियों को कड़ा से कड़ा दण्ड देने के लिए सेना की टुकड़ियाँ भेजी गयीं, लेकिन सफलता न मिली ।

असम का पुनर्गठन

इस समय असम का फिर से संगठित करने की योजना बनी । डिरांग, दूर्जोंग डिहोंग और लोहित घाटियों को तिब्बत के लिए खोल दिया गया तथा बंगाल का राज्यपाल कलकत्ते में बैठकर असम का शासन चलाने लगा । डिहोंग और खासकर लोहित घाटी की जातियाँ अंग्रेजों के बहुत खिलाफ थीं, फिर भी लोहित क्षेत्र की अबोर और मिशमी पहाड़ियों में प्रवेश करके अंग्रेज अफसरों ने अपने अदम्य साहस का परिचय दिया । इस योजना के परिणामस्वरूप वणिज व्यापार को प्रोत्साहित किया गया तथा उदलगुड़ी, सादिया और भोइमेरा आदि स्थानों में मेलों की व्यवस्था की गयी ताकि पहाड़ी जातियाँ सरकार के प्रति वफ़ादार रहती हुई रबर,

मोम, कस्तूरी हाथीदांत, चमड़ा आदि अपना सामान बेच सकें, तथा कपड़ा नमक लोहा, बरतन चांदी के गहने और अफ़ीम आदि आवश्यक वस्तुएँ खरीद सकें। लेकिन यह योजना भी विफल कारगर न हुई।

ऐसी दशा में सिपाहियों की टुकड़ियां भेजने, रास्तों को रोकने, खतरनाक स्थानों पर मिलिटरी की चौकियां कायम करने और आदिवासी जातियों के नेताओं को 'पोस' देकर खुश करने के बावजूद जब कुछ न हुआ, तो नेफा को असम से पृथक् कर इस प्रदेश को हिन्दुस्तान के नक्शे से ही हटा दिया गया। और उत्तरी असम में एक पंक्ति बना दी गयी जिसके आगे केवल 'पास' युक्त व्यक्ति ही जा सकते थे। वैसे सन् १८७३ का 'आंतरिक पंक्ति अधिनियम' (इनर लाइन रेगुलेशन) पास करने का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश प्रजा के आदिवासियों के साथ व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना था। लखीमपुर में रबर का सट्टा करने वाले व्यापारियों के साथ सरकारी कर्मचारियों का झगड़ा हो गया था। इसके सिवाय कुछ व्यापारी निश्चित क्षेत्रों की सीमा के आगे चाय के बगीचे लगाना चाहते थे, जिसके कारण सरकार का आदिवासियों के साथ बहुत झगड़ा करने पड़े थे। फिर, सबसे मुख्य बात यह थी कि इस बंजर प्रदेश से अंग्रेज़ों को आर्थिक लाभ की विशेष संभावना नहीं थी। यद्यपि यहां पर कस्तूरी रबर, मोम, हाथीदांत चमड़ा, बेंत, ऊन आदि की पैदावार होती थी, लेकिन तराई के व्यापारी इन चीज़ों को सस्ते दामों में खरीदकर ले जाते, और सरकार टक्स से वंचित रह जाती। इस समय असम को एक प्रांत का

दर्जा देकर उसे गोलपाड़ा कामरूप, दरांग, नवगोंग, लखीमपुर और शिवसागर नाम के छह जिलों में बाँट दिया गया।

लेकिन इस प्रकार कब तक काम चल सकता था? सन् १८८० में सीमाप्रांत भूमि अधिनियम (फ्रंटियरट्रैक्ट रेगुलेशन) जारी किया गया और नेफा की देखभाल के लिए लखीमपुर दरांग और सिदिया में पॉलिटिकल अफसरों की नियुक्ति हुई। सन् १८८२ में जे० एफ० नीधम सादिया में असिस्टेन्ट पॉलिटिकल अफसर के पद पर नियुक्त हुए जिससे कि आदिवासी जातियों की राजनीतिक समस्या और उनकी बोलियों आदि का अध्ययन कर उनके साथ संपर्क स्थापित किया जा सके। नीधम इस पद पर सन् १९०५ तक रहे, और इसमें सन्देह नहीं कि २७ वष के इस लम्बे अन्तराल में उन्होंने यहाँ की जातियों की भाषा आदि का अध्ययन किया और इन लोगों के साथ मित्रता के सम्बन्ध स्थापित किये। इन जातियों की भाषाओं का व्याकरण भी उन्होंने लिखा।

कुछ वर्षों के बाद सन् १९१० में ल्हासा पर चीनियों का आक्रमण हुआ तो ब्रिटिश सरकार देखती रह गई और तब से वह नेफा की उत्तरी पहाड़ियों में दिलचस्पी दिखाने लगी। नतीजा यह हुआ कि लोहित, सियांग और दिरांग दर्रोंग में सरकारी चौकियाँ कायम हो गयीं और एक बार फिर से नेफा हिंदुस्तान के राजनीतिक नक्शे में चमक उठा। धीरे-धीरे ब्रिटिश सरकार और आदिवासियों के सम्बन्ध सुधरने लगे। लेकिन इस समय सादिया के विलियमसन और ग्रेगोरसन नाम के पॉलिटिकल अफसरों की हत्या कर दी गयी। फिर से वही भय

और आशंका का वातावरण ! खैर, सुधार का काम आगे बढ़ता गया और सन् १९११ और १९१३ के बीच में पहली बार इस प्रदेश का विस्तृत 'सर्वे' हुआ और पहाड़ी प्रदेशों में अनेक सड़कें और पुलों का निर्माण किया गया। असम के राज्यपाल के मातहत लोहित और सियांग की घाटियों में असम राइफल्स की चौकियाँ कायम की गयीं, तथा भारत के सैनिक तिब्बत भारत के सीमाप्रांत तक घाटियों का पहरा देने लगे।

नेफा को अब पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों में बाँट दिया गया और यहाँ पॉलिटिकल अफसर नियुक्त कर दिये गये। आगे चलकर सन् १९१४ में इस प्रदेश को तीन भागों में बाँटा गया (क) मध्य और पूर्वी क्षेत्र , उत्तर-पूर्व सीमाप्रान्त क्षेत्र में अबोर, मिरि और मिश्मि जातियों के पहाड़ी इलाकों को, (ख) पश्चिमी क्षेत्र , उत्तर-पूर्व सीमाप्रांत भूखण्ड में मोनपा, आका और डाफला जातियों तथा मिरि और अबोर जातियों के कुछ हिस्सों के पहाड़ी इलाकों को, तथा (ग) लखीमपुर सीमाप्रांत क्षेत्र में नेफा के बाकी प्रदेश को शामिल किया गया। सन् १९१९ में पहले दो भागों को सादिया सीमाप्रांत क्षेत्र और तीसरे भाग को बालिपाड़ा सीमाप्रांत क्षेत्र में विभक्त कर दिया गया। सन् १९२१ में इन प्रदेशों को 'पिछड़े हुए प्रदेश' घोषित किया गया। तत्पश्चात् भारत सरकार का १९३५ का ऐक्ट पास होने पर इन्हें 'वर्जित' प्रदेश करार देकर असम के राज्यपाल का इन पर एकमात्र अधिकार स्थापित कर दिया गया। सन् १९४२ में सादिया सीमाप्रांत क्षेत्र में से तिराप को अलग कर दिया, तथा १९४६ में बालिपाड़ा को सी-ला सब-एजेन्सी

और सुबानसिरि भागों में बाँट दिया। लेकिन इतनी दौड़धूप करने पर भी 'भान्तरिक पक्ति' बदस्तूर कायम रही। अंग्रेज सरकार नहीं चाहती थी कि दूरवर्ती इस पवत प्रदेश में राजनीति की हवा पहुँचे। फिर अंग्रेज अफसरों का कथन था कि इस प्रदेश के निवासी प्रकृति की गोद में 'भाराम' से रह रहे हैं, उन्हें किस बात की फिक्र? सन् १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ तो नेफा को 'शाही उपनिवेश' (क्राउन कालोनी) बनाये रखने की बात ब्रिटिश सरकार का ओर से उपस्थित की गयी लेकिन अंग्रेजों की एक न चली। भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने के साथ ही नेफा की जनजातियों को भी स्वतन्त्रता मिली और उनकी खुशी का ठिकाना न रहा।

नेफा में नव जीवन का संचार

स्वतन्त्रता के बाद नेफा-निवासियों के हित म अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की गयी। तब स अब तक इस प्रदेश में कई करोड़ रुपये खर्च करके सड़कों और पुलों का निर्माण किया जा चुका है, वैज्ञानिक तरीकों से खेतों म अधिक अन्न उपजाने तथा स्वास्थ्य-सुधार और शिक्षा का प्रचार करने के लिए भारत-सरकार की ओर से काफी मात्रा में धन का व्यय किया जा रहा है।

आजादी के बाद सन् १९४८ में सादिया प्रदेश में से तिराप को निकालकर जो हिस्सा बाकी बचा उसे अबोर और मिशमी पहाड़ियाँ नामक दो भागों मे बाँट दिया गया। पहले नागा हिस्से पर डिप्टी कमिश्नर का शासन था लेकिन

१९५१ में इसे पृथक् जिला बना दिया, और १९५३ में इस त्वेनसांग सीमाप्रांत जिला कहा जाने लगा। तत्पश्चात् १९५४ में समूचे नेफा को नये सिरे से कामेंग, सुबानसिरी, सियांग, लोहित, तिराप और त्वेनसांग इन छः प्रदेशों में बाँटा गया। १९५६ में त्वेनसांग को नागा हिल्स जिले के साथ मिला दिया और आजकल यह प्रदेश नागा हिल्स त्वेनसांग प्रदेश के नाम से कहा जाता है।

अंग्रेजों के शासनकाल में नेफा में जो भय और आशंका की परिस्थितियाँ बनी रहती थीं, वे सब बदल चुकी हैं। यहाँ की आदिवासी जातियों के जीवन में आशा और उत्साह का संचार हो रहा है। इसीलिए भारत सरकार को उनका हर प्रकार का सहयोग मिल रहा है। भारत के प्रधानमंत्री पण्डित नेहरू का कहना ठीक ही है कि यदि हम आदिवासी जातियों से निकट आकर उनके साथ भाई-चारे का बर्ताव करें तभी उनका और हमारा कल्याण हो सकता है और हम आक्रमणकारियों का सामना कर सकते हैं।

३

नेफा निवासियों के जीवन की झलक

नेफा में रहने वाले आदिवासी बड़े ही शान्त स्वभाव के अच्छे ईमानदार परिश्रमी और विनोदप्रिय होते हैं। उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त अथवा पंजाब आदि प्रदेशों में रहने वाली जातियों की भाँति जल्दी से क्षुब्ध हो जाने वाले कलह-प्रिय अथवा तुनुक-मिजाज आप उन्हें नहीं पायेंगे। इसका प्रमुख कारण है उनका संघर्षमय कठोर जीवन तथा जीवन की अनिश्चित परिस्थितियाँ। घने जंगलों से आच्छादित और नदी-नालों से भरपूर इस पहाड़ी प्रदेश के कुछ इलाकों में तो घनघोर वर्षा होती रहती है जिससे यहाँ के निवासी स्वच्छंदतापूर्वक घूम-फिर नहीं सकते अपने घर के कोनों में सिमटकर ही उन्हें बैठे रहना पड़ता है। आबहवा में इतनी नमी आ जाती है कि कोई चीज बहुत दिनों तक नहीं टिकती इसलिए घर की मामूली चीजों को भी बाँस की टोकरियों में बाँधकर सुरक्षित रखना पड़ता है। नमी से बचने के लिए यहाँ के निवासी जमीन से ऊपर बाँसों और लकड़ियों के घर बनाते हैं। य लकड़ियाँ छीजती रहती हैं जिससे उनका धुँआ घर में भर जाता है और इससे कपड़ों आदि की चमक नष्ट हो जाती है।

ढ़ और भूकम्प

नेफा के रम्य प्रदेश में कलकल करती हुई सैकड़ों

नदियाँ बहती हैं और जब इनमें बाढ़ आती है तो नदियों की घाटियों में बसे हुए गाँव-के-गाँव बह जाते हैं। सन् १९५४ में लोहित नदी में बाढ़ आने के कारण सादिया नामक कस्बे का नाम निशान तक बाकी न रहा, यद्यपि यहाँ के वीर और साहसी स्त्री-पुरुषों ने कुछ दिन बाद ही इसे फिर से आबाद कर लिया। भूकम्प के प्रकोप से भी यहाँ के निवासी बच नहीं पाते। सन् १९५० में लोहित डिवीजन में जो भीषण भूकम्प हुआ उससे सारे इलाके का नक्शा ही बदल गया। ऐसी घोर-जोर की आवाज आने लगी मानो लोहे की मोटी चद्दरों को लोहे के डंडों से पीटा जा रहा हो। चट्टानें पहाड़ों से टूट-टूटकर गिरने लगीं और सब जगह धूल-ही-धूल हो गयी। आसपास की जमीन गिरने से घाटियों के रास्ते बन्द हो गये और नदियों में ऐसी भयंकर बाढ़ आई कि स्वच्छ जलधारा के स्थान पर उनमें भूरे रंग की दलदल-ही-दलदल बहने लगी, तथा नदियाँ चट्टानों और टिम्बर के वृक्षों से भर गयीं। कुत्तों का भौंकना बन्द हो गया और नक्षत्र-मालिका छिन्न भिन्न पर्वतों की उड़ी हुई धूल से श्रीविहीन दिखाई पड़ने लगी। सन् १८९१ और १९४७ में भी भयंकर भूकम्पों के धक्के यहाँ लगे थे।

शीत का प्रकोप

पहाड़ी इलाका होने के कारण शीत का प्रकोप भी यहाँ कुछ कम कष्टप्रद नहीं है। सर्दी से बचने के लिए घरों में आग जलाये रखना आवश्यक है। आग मृतमेतों

को भगाने में भी सहायक होती है और उसके धुएं से मच्छर आदि विषैले जन्तु मर जाते हैं। अत्यधिक शीत के कारण कितनी ही जातियां हर साल अपने स्थानों को छोड़कर तराइयों में आकर रहने लगती हैं। गांव में भाय सय जाने का डर सदा बना रहता है।

बियाबान जंगल

यहां के वन और जंगल इतने घने हैं कि हजारों एकड़ जमीन में सूर्य की किरणें तक नहीं पहुंच पातीं तथा दुर्गम होने के कारण पक्षियों का कलरव तक सुनाई नहीं देता। एक ओर विशालकाय नगाधिराज खड़े हैं तो दूसरी ओर वनदेवता विराजमान हैं। दोनों ही आदिवासियों के आराध्यदेव हैं। इन बियाबान जंगलों में मदोन्मत्त हाथी निर्भय होकर विचरण करते हैं। डर रहता है कि कहीं ये उन्नतकाय वृक्षपंक्तियों की शीतल छाया में सुखपूर्वक अपने घरों का लेते हुए अजगरों के स्थूल शरीर को चक्की के पाट जैसे अपने बड़े-बड़े पांवों से न कुचल दें। चीता सूअर बन्दर हरिण, चमरी गाय सांप, छिपकली और विषैले कीड़े-मकोड़ों आदि की भी यहां भरमार रहती है।

बीहड़ रास्ते

मार्ग यहां के अत्यन्त बीहड़ और दुर्गम हैं। ऊबड़ खाबड़ रास्तों में चलते चलते दम फूलने लगता है, और यदि पहाड़ पर चढ़ने का अभ्यास न हो तो सिर में चक्कर

माने लगता है। रास्ते दलदल से भरे रहते हैं, इसलिए घुटनों तक के बूट चुटे पहने बिना चलना असम्भव है। टट्टू की सवारी अलबत्ता बहुत सहायक होती है, लेकिन टट्टू को भी चट्टाना की छोर पर पाँव रख रखकर बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाने पड़ते हैं। मिट्टी इतनी चिकनी होती है कि जीप के पहिये तक रपटते हैं और यदि ड्राइवर सतर्कता से काम न ले तो फिर अन्तहीन दर्रों की ही शरण में विश्राम करना पड़े। कुछ पहाड़ी प्रदेश १४००० फुट से भी अधिक ऊँचे हैं, जहाँ सांस लेना भी मुश्किल हो जाता है, यहाँ तक कि हवा पतली होने के कारण हवाई-जहाज भी कठिनाई से उड़ पाता है। और कितनी ही बार नमक आदि आवश्यक खाद्य सामग्री पहुँचाने के लिए हवाई-जहाजों के बिना काम चलता नहीं।

रस्सों और बेंतों के पुल

दुनिया के इस 'मूक प्रदेश' में दुर्गम नदी-नालों की कमी नहीं। इन नदियों का पार करने के लिए दवदार के वृक्ष मोटे-मोटे रस्सों और बेतों के लम्बे पुल बनाये जाते हैं। पुल बनाने के लिए रस्से के दो छोरों को नदी के आर-पार खड़े हुए वृक्षों या चट्टानों से कसकर बांध दिया जाता है। फिर इस रस्से में बेंतों के घेरे बनाये जाते हैं। नदी के उस पार जाने वाले यात्री के हाथों, पाँवों, और कमर में चमड़े की पट्टियाँ कस दी जाती हैं और वह सरकस के तारों से बनी झूलियों के इन घेरों में बन्दर की तरह लटककर अपने आपको फँसा लेता है, तथा हाथों और पैरोंसे जोर लगा-लगा-

को भगाने में भी सहायक होती है और उसके धुएं से मच्छर आदि विषैले जन्तु मर जाते हैं। अत्यधिक शीत के कारण किरामी हो जातियाँ हर साल अपने स्थानों को छोड़कर तराइयों में आकर रहने लगती हैं। गाँव में आग लग जाने का डर सदा बना रहता है।

बियाबान जंगल

यहाँ के वन और जंगल इतने घने हैं कि हजारों एकड़ जमीन में सूर्य की किरणें तक नहीं पहुँच पातीं तथा दुर्गम होने के कारण पक्षियों का कलरव तक सुनाई नहीं देता। एक ओर विशालकाय नगाधिराज खड़े हैं तो दूसरी ओर वनदेवता विराजमान हैं। दोनों ही आदिवासियों के आराध्यदेव हैं। इन बियाबान जंगलों में मदोन्मत्त हाथी निर्भय होकर विचरण करते हैं। डर रहता है कि कहीं वे उन्नतकाय वृक्षपंक्तियों की शीतल छाया में सुखपूर्वक अपने अड्डों को सेते हुए अजगरों के स्थूल शरीर को, चक्की के पाट जैसे अपने बड़े-बड़े पाँवों से न कुचल दें। चीता, सूअर, बन्दर, हरिण, चमरी गाय, साँप, छिपकली और विषैले कीड़े-मकोड़ों आदि की भी यहाँ भरमार रहती है।

बीहड़ रास्ते

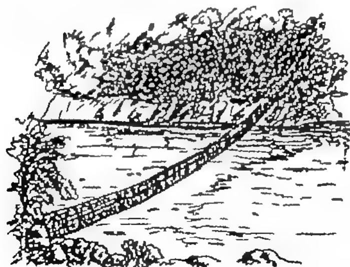
मार्ग यहाँ के अत्यन्त बीहड़ और दुर्गम हैं। ऊबड़ खाबड़ रास्तों में चलते चलते दम फूलने लगता है, और यदि पहाड़ पर चढ़ने का अभ्यास न हो तो सिर में चक्कर

आने लगता है। रास्ते दलदल से भरे रहते हैं, इसलिए घुटनों तक के बूट जूते पहने बिना चलना असंभव है। टट्टू की सवारी अलबत्ता बहुत सहायक होती है लेकिन टट्टू को भी चट्टानों की कोर पर पाँव रख-रखकर बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाने पड़ते हैं। मिट्टी इतनी चिकनी होती है कि जीप के पहिये तक रपटते हैं और यदि ड्राइवर सतर्कता से काम न ले तो फिर अन्तहीन दर्रों की ही शरण में विश्राम करना पड़े। कुछ पहाड़ी प्रदेश १४००० फुट से भी अधिक ऊँचे हैं, जहाँ साँस लेना भी मुश्किल हो जाता है, यहाँ तक कि हवा पतली होने के कारण हवाई-जहाज भी कठिनाई से उड़ पाता है। और कितनी ही बार नमक आदि आवश्यक खाद्य सामग्री पहुँचाने के लिए हवाई-जहाजों के बिना काम चलता नहीं।

रस्सों और बेंतों के पुल

दुनिया के इस 'भूख प्रदेश' में दुर्गम नदी-नालों की कमी नहीं। इन नदियों को पार करने के लिए देवदार के वृक्षों मोटे-मोटे रस्सों और बेंतों से लम्बे पुल बनाये जाते हैं। पुल बनाने के लिए रस्से के दो छोरों को नदी के आर-पार खड़े हुए वृक्षों या चट्टानों से कसकर बाँध दिया जाता है। फिर इस रस्से में बेंतों के घेरे लगाये जाते हैं। नदी के उस पार जाने वाले यात्री के हाथों, पाँवों, और कमर में चमड़े की पट्टियाँ कस दी जाती हैं और वह सफल के द्वारा में बनी चूड़ियों के इन घेरों में बन्दर की तरह लटककर अपने आपको फँसा लेता है, तथा हाथों और पैरों से जोर लगा-लगा

कर रस्से की सहायता से आगे की ओर खिसकता जाता है। जरूरत पड़ने पर पालतू जानवर और भारी सामान आदि भी इसी तरीके से उस पार ले जाया जाता है। रस्सों के इन पुलों को पार करना कोई साधारण काम नहीं उन्हें देखते ही रूह कांपने लगती है। बेंत का घेरा कहीं बीच में ही अटक गया तो ! इन पुलों का बांधना भी अत्यन्त श्रम-साध्य है और जान की जोखिम उठाकर ही यह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। कितनी ही बार नदियों में बाढ़ आने के कारण



बेंत का बना एक पुल

ये पुल बह जाते हैं और सारी कमाई मेहनत मिट्टी में मिल जाती है।

पहाड़ियों के ऊपर घर

स्वास्थ्य की दृष्टि से नदियों की घाटियाँ सुखदायक नहीं होतीं। मक्खी, मच्छर आदि विषैले जन्तुओं का प्रकोप सदा बना रहता है जिसके कारण मलेरिया आदि रोगों से पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो जाता है। इसीलिए आदिवासी जातियाँ इन घाटियों से हटकर, दूर पहाड़ियों के ऊपर अपने घर बनाकर रहती हैं। यहाँ उन्हें पीने के लिए पानी और भोजन बनाने के लिए ईंधन आदि का बहुत कष्ट होता है। दोनों ही जीवन के लिए आवश्यक हैं और इन चीज़ों को उन्हें दूर से ढोकर लाना पड़ता है।

नेफा की कितनी ही जातियाँ वृक्षों के ऊपर बाँसों के घर बना कर रहती हैं। पक्षियों के घोंसलों को देख कर यह विचार आदिवासी जातियों के मन में उदित हुआ होगा। वृक्षों पर रहने के कारण जंगल में घूमने वाले हाथियों आदि जानवरों से भी उनकी रक्षा हो जाती थी। कहा जाता है कि आरम्भ में मनुष्य के पास रहने को घर नहीं था, तो वह जंगल के जानवरों से सलाह करने गया। हाथी ने उसे घर के लिए अपनी टाँगों जैसे लकड़ी के मजबूत खम्भे, सप ने अपने शरीर जैसे लम्बे बल्ले, भैंस ने अपने शरीर के कंकाल जैसी छत तथा मछली ने अपने काँटों जैसी पत्तियों से छप्पर बनाने की सलाह दी। बस, मनुष्य घर बना कर सुख-चैन से रहने लगा।



खेती का निराला ढंग

पहाड़ों पर खेती

ऐसी विकट परिस्थितियों में रहने के लिए बहुत बड़े जीवट की आवश्यकता है। पता नहीं, इस विषम दशा में भी इन्सान कैसे जिन्दा रहता है! मीलों लम्बी बंजर पहाड़ियाँ दिखाई देती हैं और चारों ओर जंगल-ही-जंगल छाया हुआ है फिर भी इन्सान खेती करके अपने अद्भुत साहस का परिचय देता है। खेती का ढंग यहाँ बिल्कुल निराला है, इसे 'झूम' कहते हैं। पहले लोग जंगल के पेड़ों को काटकर पहाड़ी की चोटियों को साफ कर लेते हैं। कुछ महीने बाद इन पेड़ों के सूख जाने पर इनमें आग लगा देते हैं और इनकी राख से खाद का काम लिया जाता है। पहाड़ियों की यह जमीन इतनी ढालू होती है कि उसमें हल चलाना कठिन है, इसलिए जमीन कुदाल से खोद-खोदकर उसमें बीज बोया जाता है। खेती के लिए उपयुक्त स्थान को चुनने से लगाकर खेत की बुवाई तक का काम किसी पुरोहित-पंडित की मौजूदगी में विधिपूर्वक बड़ी धूमधाम से सम्पन्न किया जाता है। यहाँ अक्सर चावल की खेती होती है। ढालू पहाड़ी पर खेती होने के कारण जंगली हाथियों द्वारा फसल बर्बाद किये जाने का डर नहीं रहता। चावल की बनी शराब का धार्मिक उत्सवों पर उपयोग किया जाता है।

कहते हैं कि एक बार कोई चूहा आसमान से आ गिरा। उसके मुँह में चावल के दाने थे, ये दाने भी जमीन पर गिर पड़े। कुछ दिनों बाद ये दाने उग आये, और इस तरह इंसान

को पहले-पहल चावल खाने को मिले। चूहे को जमीन खोदते देखकर इंसान ने भी जमीन खोद कर खेती करना सीखा। आजकल भी चूहा खेत के चावलों को चुरा कर ले जाने की ताक में रहता है, क्योंकि वह समझता है कि इन चावलों पर उसका अधिकार है।

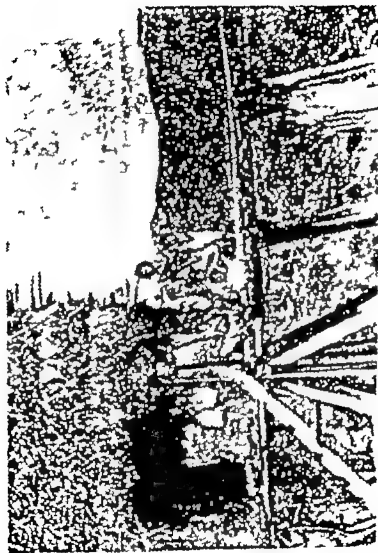
अन्यत्र मिर्च और तम्बाकू आदि की उत्पत्ति बतायी गयी है। किसी गाँव में दो भाई रहते थे बड़े का नाम था बनजी और छोटे का नाम नान-गाँग। बड़ा भाई हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर और परिश्रमी था, छोटा कमजोर, कुरूप और कमजोरा। छोटे भाई को जब कुछ खाने को नहीं मिला तो वह भूख से मर गया। उसकी लाश बहुत दिनों तक पड़ी सड़ती रही। तत्पश्चात् उसके मिलाशय से मिर्च और उसके नाखूनों से तम्बाकू का पौधा उगा (वेरियर एलविन, 'मिथ्स ऑफ दी नॉर्थ ईस्ट फ्रंटियर ऑफ इण्डिया'।)

बुनकरों का प्रदेश

नेफा बुनकरों का प्रदेश कहा जाता है। सूत कातने और कपड़ा बुनने में बड़े सन्तोष और धीरज की आवश्यकता होती है, इसीलिए आश्चर्य नहीं कि नेफा की जातियों में भी ये गुण पाये जाते हैं। आदिमकाल में सब लोग नग्न अवस्था में घूमा करते थे। पहले-पहल मनुष्य ने ठंड से बचने के लिए नहीं, बल्कि जादू-टोने के लिए वस्त्र पहनने शुरू किये। प्रारम्भ में मनुष्य वृक्ष की छाल अथवा पत्तों को वस्त्र के रूप में पहना करता था। आजकल भी आदिवासी जातियाँ बेंत का पट्टा



सियांग डिवीजन के एक गांव में कुटाई और दव का काम हो रहा है



बना कर उसे अपनी कमर में लपेटती हैं। बकरे कुत्ते और याच्मी के बालों का भी वे उपयोग करती हैं चमरी गाय की ऊन वे तिब्बत से लाती हैं। सम्भवत पहले-पहल मकड़ी के जाल को देखकर मनुष्य ने बुनने की कला सीखी। चीन के पक्ष में स उसने सूत निकाला। यहाँ की आदिम जातियों का विश्वास है कि किसी देवता ने स्वप्न में उपस्थित होकर बुनने की शिक्षा दी। कपास का पौधा भी पहले-पहल स्वप्न में ही दिखाई दिया।

कहते हैं कि हैम्बुमानी नाम की एक कन्या को किसी देवता ने बुनने की कला सिखाई। नदियों की लहरों को देख कर उसने डिजाइन, तथा बांसों की पत्तियों और फूल-पौधों को देख कर नमूने तैयार किये। हैम्बुमानी का काम इतना ही सुन्दर था जितनी कि वह स्वयं। उसके रूप-सौन्दर्य से मुग्ध होकर हर नौजवान उससे शादी करने का इच्छुक था। एक ग्नि हैरुम ने उसके बनाये हुए सुन्दर कपड़ों को चुरा लिया। हैम्बुमानी को उसने नदी में धक्का दे दिया, उसका करघा टूट कर नदी में बह गया। बहते-बहते वह समतल भूमि में पहुँचा और उसकी सहायता से वहाँ रहने वाले लोगों ने बुनना सीख लिया।

आग की खोज

अन्न, वस्त्र और मकान की प्राप्ति हो जाने के बाद सर्दी से बचने और भोजन पकाने के लिए उसने आग की खोज की। एक दिन कोई आदिवासी जंगल में लकड़ी काट रहा था। —

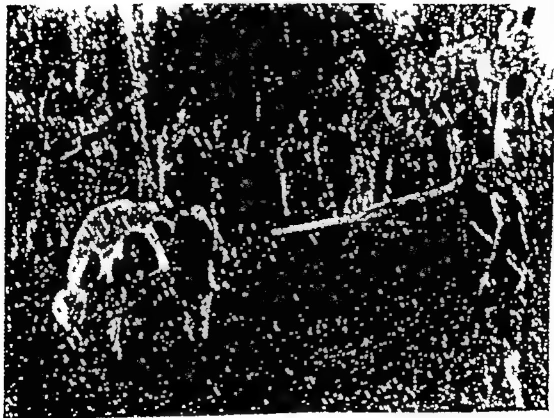
पास के पेड़ पर बैठे हुए पक्षी पर उसने एक पत्थर फेंक कर मारा, पत्थर चट्टान में जाकर लगा। पत्थर की रगड़ से चट्टान में से चिनगारियाँ निकलीं और इससे पास की झाड़ी जल उठी। आग जैसी उपयोग की वस्तु को पाकर वह आश्चर्यचकित हो उठा।

झाड़-फूंक

नेफा की आबहवा स्वास्थ्यकारक नहीं, इसलिए यहाँ के निवासी मलेरिया, माता तपेदिक और कोढ़ आदि बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। लेकिन आधुनिक डाक्टरों की अपेक्षा झाड़-फूंक करने वाले ओझाओं में ही उनका अधिक विश्वास है। यहाँ तक कि बन्दूक की गोली लग जाने पर भी ये लोग ओझा के पास ही जाते हैं। पहले तो मन्त्रपाठ करके एक मेमने का वध किया जाता है और फिर ओझा मरे हुए चमड़े की पट्टी को गोली से घायल हुए स्थान पर बाँध देता है। आदिवासी जातियों का विश्वास है कि देवों और दानवों के पारस्परिक क्रोध और ईर्ष्या के कारण ही बीमारियाँ फैलती हैं इसलिए देवी-देवताओं का सुअर और मुर्गे की बलि चढ़ा कर उन्हें शांत करना आवश्यक है।

योजनाओं की सफलता

नेफा में रहने वाली जातियों की अनेक समस्याएँ हैं, और सन् १९४७ से ही भारत सरकार उन्हें सुलझाने के लिए प्रयत्नशील है। सर्वप्रथम उनकी भोजन-समस्या को हल करने



बलि देने के पूर्व देवी देवताओं का आह्वान किया जा रहा है

का प्रयत्न किया जा रहा है जिससे कि खेती-बारी में आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का उपयोग कर पदावार बढ़ाई जा सके। यातायात की एक दूसरी महान् समस्या है, इसे हल करने के लिए बहुत-सा द्रव्य खर्च किया जा रहा है। तेजपुर से बोमडिला की सड़क बनाने में तो भारत के इंजीनियरों ने कमाल कर दिया है। स्वास्थ्य-सुधार के लिए जगह-जगह अस्पताल खोले जा रहे हैं जिनमें बहुत से डाक्टर कुशलतापूर्वक काम कर रहे हैं। शिक्षा प्रचार के लिए स्कूल खोल दिये गए हैं। दास प्रथा का अन्त हो गया है। उद्योग-धन्धों में भी वृद्धि हो रही है। नेफा पर चीनी आक्रमण के बाद तो जल्दी-से-जल्दी इस समृद्ध और सम्पन्न प्रदेश के औद्योगीकरण की योजनाओं पर विचार किया जा रहा है। यहाँ के जंगलों से २६ लाख रुपये साल की आमदनी है, लेकिन इस आमदनी में वृद्धि करने के लिए यहाँ से स्लीपर और टिम्बर खरीदने, तथा बाँस का उपयोग करने के लिए कागज का कारखाना खोलने की योजना बन रही है। इसी प्रकार तेल, कोयले आदि खनिज पदार्थों को अधिक मात्रा में प्राप्त करने, तथा चाय और कॉफी उगाने की योजनाओं पर विचार किया जा रहा है।

सौन्दर्योपासना

हिम से आच्छादित पर्वत शृंखलाओं स्वच्छ जल से पूरित नदियों पहाड़ों की चोटियों से गिरते वाले जलप्रपातों तथ हरे भरे देवदार और सरु के वृक्षों से आवृत घाटियों से लालित पालित इस प्रदेश के वासी सदा से प्रकृति-सौन्दर्य के उपा...

रहे हैं। इसका परिणाम उनके मन और मस्तिष्क पर हुआ, जिससे ये लोग सहृदय और उदारचित्त बन सके और कला कौशल की ओर इनका झुकाव हुआ। उदाहरण के लिए, यहाँ की मोनपा जाति विविध कलाओं और खासकर चित्रकला और अपने नृत्यों के लिए प्रख्यात है। इन जातियों की लोक कथाओं में जन-जीवन की कितनी ही हास्य और विनोदप्रिय कहानियाँ पायी जाती हैं।

गंगोबा राजा

गारो-लोककथा में गंगोबा राजा की एक कहानी आती है। गंगोबा राजा एक बहुत मालदार व्यक्ति था लेकिन कोई गारो उसे नहीं चाहता था। एक दिन गाँव वालों ने सोचा कि क्यों न उसके घर में आग लगा दी जाये। गंगोबा को इस बात का पता लग गया और वह अपना घर-बार छोड़कर भाग गया। अगले दिन लोगों ने देखा कि वह अपने जले हुए घर में से राख बटोर रहा है। उसके दो दिन बाद वह अपने सामान के साथ घर लौट आया। यह देख कर गाँव वालों को बहुत ताज्जुब हुआ। पूछने पर गंगोबा ने कहा कि अपने जले हुए घर की राख उसने असम के किसी व्यापारी को बेच दी है जिससे उसे काफी रुपया मिला है। गारो जाति के मुखिया ने गंगोबा की बात पर विश्वास कर लिया। उसने सारे गाँव में आग लगवा दी और वह घरों की राख बेचने के लिए बाजार में निकला। लेकिन उसकी कोई कीमत उसे न मिली। इस प्रकार गंगोबा गाँव के लोगों को बार-बार बेवकूफ बनाता रहा। उन्होंने उसे जान से

मार डालने का इरादा किया। वे लोग एक बड़ा पिंजरा लाये और गंगोवा को उसमें बठा कर उसे नदी में डुबोने चल दिये। गर्मी का मौसम था गाँव वालों ने सोचा, जरा आराम ही कर लें। यह सोचकर पिंजरे को एक ओर रख कर वे लोग आराम से सो गये। गंगोवा को पास में एक ग्वाला दिखाई दिया। उसने ग्वाले को पास बुला कर कहा कि देखो, ये गाँव वाले उसकी मर्जी के खिलाफ उसे ब्याहने ले जा रहे हैं। गंगोवा ने ग्वाले को अपनी जगह बठ जाने को कहा और वह पिंजरे में से निकल भागा। गाँव वाले आराम करके वापस लौटे और उन्होंने ग्वाले को नदी में डुबो दिया। अगले दिन गंगोवा को घूमते-फिरते देख उन लोगों को बड़ा ताज्जुब हुआ। गंगोवा से पूछने पर उसने उत्तर दिया—नदी के जल के नीचे एक शक्तिशाली राजा निवास करता है वह गारो जाति के लोगों से मिलने का बड़ा इच्छुक है। इस राजा ने उसे बहुत से उपहार देकर सम्मानपूर्वक विदा किया है और कहलाया है कि सारे गाँव के लोग उपहार लेकर आयें और उससे मिलें। गाँव वालों को गंगोवा की बात पर विश्वास हो गया। वे लोग बड़ी बड़ी टोकरियों में एक से एक कीमती उपहार भरकर जल-राजा को प्रसन्न करने के लिए नदी-किनारे उपस्थित हुए। गंगोवा ने मौका पाकर सब लोगों को नदी में धकेल दिया और वह राजा बनकर राज्य करने लगा।

—

४

सीमा प्रदेश की जातियाँ

प्राचीन काल की गण-व्यवस्था

वैदिक और बौद्ध काल में मेरपाद शिवि, पक्थ, वज्जी, लिच्छवी मल्ल, शाक्य आदि गणों का उल्लेख आता है। आदिवासी कबीले भी गण-व्यवस्था का ही एक रूप थ। सभ्यता के शैशवकाल में प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करते रहने के कारण इन कबीलों का जीवन सदा अभाव और संकट में बीता है। एक कबीले को दूसरे कबीले से अपनी रक्षा करनी पड़ती है इसलिये युद्ध ही एकमात्र शरण थी। ऐसी हालत में अपने अपने कबीलों में आत्मकेन्द्रित हो जाने के कारण ये लोग अपरिचित और अनजान लोगों से सशंक रहने लगे। इस सशंकता का एक सुखद परिणाम भी हुआ और वह यह कि उनका अपनी सभाओं और मजलिसों में एकत्रित होकर जन और गण से सम्बन्धित विषयों पर चर्चा करना और गण के राजा की आज्ञा शिरोधार्य करना। उस काल में स्त्रियाँ भी पुरुषों के प्रत्येक कार्य में हाथ बँटाती थीं, इसलिए कबीलों के समाज में बराबरी का दर्जा होने से उन्हें पर्याप्त सम्मान दिया गया। बौद्धकाल में वैशाली निवासी लिच्छवियों में गण व्यवस्था का यह रूप मौजूद था और बुद्ध भगवान् ने इस व्यवस्था के आधार पर अपना बौद्ध संघ स्थापित किया था।

नेफा के कबीले भी इस जन और गण-व्यवस्था के अनुयायी रहे अन्तर केवल यही कि लिच्छवी गण की व्यवस्था आर्थिक विकास के काल की व्यवस्था थी जबकि नेफा के कबीलों की व्यवस्था अनेक कारणों से पिछड़ी हुई रह गयी।

अनुशासन-प्रिय नेफा के कबीले सदा से मिल-जुलकर रहे हैं तथा निर्भीक, साहसी, परिश्रमी और आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत करते आये हैं। जाति-पाँति की व्यवस्था ये स्वीकार नहीं करते विचारों में उदार होते हैं और अपने अतिथियों का खूब सत्कार करते हैं। आज भी ये कबीले अपनी ग्राम-सभाओं म बठकर आपसी झगड़े तय करते हैं और जो किसी ने कहीं कुछ देखा या सुना हो उसे अपने साथियों को सुनाते हैं, तथा रात को १० से ११ के बीच सारे गाँव में अगले दिन के कार्य-क्रम की घोषणा करते हैं कि कल चीते का शिकार किया जाएगा या मछली का, जंगल के वृक्षों को काटा जाएगा या खेत की फसल को या फिर धूमधाम से कोई उत्सव मनाया जायगा।

(१) कार्मेंग सीमा-प्रदेश

नेफा का कार्मेंग सीमा प्रदेश अन्य सीमा प्रदेशों की अपेक्षा अधिक विकसित और सम्पन्न है। यह प्रदेश भूटान और तिब्बत के बीच अवस्थित है। तिब्बत जाने के लिए यहाँ से तीन मार्ग हैं पहले दो, जनवरी से लेकर मई तक बन्द रहते हैं तीसरा मार्ग बारह महीने खुला रहता है। इसी मार्ग से तिब्बत के दलाई लामा अपने खच्चरों पर पोतला का अपना कीमती

सामान लादकर हिन्दुस्तान पहुँचे थे। यहाँ से तिब्बत का मार्ग सुगम होने के कारण यह प्रदेश चीनी सेनाओं के आक्रमण का शिकार हो गया, और पूरे एक महीने तक यहाँ के पॉलिटिकल अफ़सर के हैडक्वार्टर, १० हजार फुट ऊँचे बोमडिला पहाड़ पर वे कब्ज़ा किये रहे।



कामेंग सीमा प्रदेश

कामेंग नदी के तट पर बसा हुआ होने के कारण यह प्रदेश कामेंग नाम से कहा जाता है। यहाँ बारहों महीने वर्षा होती है और बर्फ गिरती है। बहती हुई नदियों झीलों, झरनों, लहलहाते हुए वृक्ष-कुंजों तथा भाँति भाँति की रंग बिरंगी फूल-पत्तियों वाले झाड़ों से यह प्रदेश रम्य है। हरी भरी पहाड़ियों से घिरी हुई पर्वत-शृंखलाओं और नीचे की ओर दिखाई देने वाली पर्वत की घाटियों के दृश्य अत्यन्त मनोरम हैं। पान

पड़ता है कि प्रकृति ने आनन्द विभोर होकर अपनी समस्त सुषमा और सौन्दर्यगरिमा बिखेर दी है। रास्ते यहाँ के इतने ऊबड़-खाबड़ हैं कि पहाड़ी टट्टुओं के बिना यात्रा करना असम्भव है। ऊपर काले-काले बादल और नीचे घने जंगलों से आच्छादित अन्तहीन दर्रों को देखने मात्र से दिल काँप उठता है। बर्फीली हवा इतनी तेज चलती है कि मानो चाकू के घाव लग रहे हों।

बोमडिला से टट्टू पर बैठकर डिरांग दृज़ोंग पहुँचने में दो दिन लगते हैं। तिब्बती भाषा में दृज़ोंग का अर्थ किला होता है, अर्थात् यह किले का गाँव है। उन दिनों अपने-अपने गाँवों की रक्षा के लिए आदिवासी जातियाँ किले बाँधती थीं, जिससे दूसरे कबीले उन पर आक्रमण न कर सकें। 'सीज-फायर' (युद्धबन्दी) की एक-तरफा घोषणा के पश्चात् चीनी सैनिक बोमडिला छोड़कर यहाँ से चले गये और बहुत दिनों तक यहाँ युद्ध के कैदियों को लौटाने का काम चलता रहा। कहते हैं कि चीनी सिपाही डिरांग घाटी के कितने ही नवयुवकों को पकड़कर पेकिंग की अल्पसंख्यक जातियों की इंस्टिट्यूट में ट्रेनिंग के लिए ले गये हैं और ट्रेनिंग के बाद उन्हें इन पहाड़ी प्रदेशों में प्रचार के लिये भेजा जायगा।

सी-ला इस प्रदेश का दूसरा मुख्य स्थान है। यह कामेंग नदी के किनारे बसा हुआ है और बोमडिला से ७५ मील दूर है। १४००० फुट ऊँचे इस पर्वत शिखर पर वर्षा होती रहती है और बर्फ ही बर्फ बरसता है। चारों ओर बर्फ से ढके पहाड़ नजर आ रहे हैं। ११५०० फुट से आगे जाकर तो आदिवासी भी

नेफा की जातियाँ

रहने की हिम्मत नहीं करते। यहाँ दो बड़ी-बड़ी झीलें हैं जिनसे इस निर्जन पहाड़ी का सौन्दर्य निखर उठा है।

तोवांग का बौद्धमठ

तोवांग इस प्रदेश का अत्यन्त रमणीय स्थान है। चारों ओर सदा हरे रहने वाले देवदारु और बलूत के वृक्ष तथा भाँति भाँति के गुलाबी नीले-पीले और हरे पुष्पों की नयनाभिराम जंगली झाड़ियाँ मन को मुग्ध कर देती हैं। सी-ला पहुँचने में यहाँ से छह दिन लगते हैं लेकिन मालूम होता है कि जमीन पर स्वर्ग उतर आया है। तोवांग संसार प्रसिद्ध अपने बौद्धमठ के लिए प्रख्यात है। भारत का यह सबसे बड़ा मठ है जो आज से ३५० वर्ष पहले पास के गाँव में छठे दलाई लामा के जन्म के बाद बनाया गया था। इस मठ में ६०० लामा रह सकते हैं। इनमें बहुत से लामा नवयुवक भी होते हैं जो बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के साथ-साथ खेतीबारी, पशु-पालन पाकविद्या आदि उपयोगी कामों की भी शिक्षा प्राप्त करते हैं। मठ की दिवारें बुद्ध भगवान के जीवन की कथाओं से अंकित हैं। तोवांग का अर्थ होता है 'टट्टुओं का धनी'। इन प्रदेशों के लिए टट्टू ही एकमात्र सवारी है इसलिये टट्टू की आदमी से भी अधिक कीमत है।

कामेंग की विशिष्ट जातियाँ

इस सीमा प्रदेश में मोनपा शेरडुकपन, बुगुन (अथवा खोवा), हृसो (अथवा आका) मिजि (अथवा धम्माई), तथा

बंगनी (अथवा डाफला) जातियां निवास करती हैं। इनमें मोनपा एक सुसंस्कृत और कलाप्रिय जाति है। ये लोग पश्चिम की ओर सोवांग और डिरांग दुर्जोंग के आसपास के गांवों में निवास करते हैं। बौद्ध धर्म को ये मानते हैं और इनकी जनसंख्या लगभग २० हजार है। ये लोग बड़े शान्त, विनयी, उत्साही और परिश्रमी होते हैं, अपने अतिथियों का दिल खोल कर स्वागत करते हैं। ग्राम-पंचायतों द्वारा अपने विवादास्पद प्रश्नों को मिटाते हैं। मोनपा बहुत अच्छे किसान होते हैं। चावल की वे खेती करते हैं तथा बलूत की पत्तियों और गोबर की खाद को खेतों में डालते हैं। याकों के अलावा ये गाय बैल, चमरी गाय और भेड़ को पालते हैं। नेफा की आदिवासी जातियों में केवल मोनपा ही गाय का दूध पीते हैं बाकी जातियां दूध को निषिद्ध समझती हैं। ये लोग चाय में नमक और मक्खन डालकर पीते हैं। मोनपा तिब्बती पोशाक पहनते हैं तथा तिब्बत भूटान और कलिंगपोंग से व्यापार करते हैं। ये लोग लकड़ी के फर्श वाले पत्थर के घरों में रहते हैं रंग बिरंग सुन्दर वस्त्र पहनते हैं सुन्दर डिजाइन वाले गलीचे बुनते हैं, वनस्पतियों से कागज बनाते हैं, लकड़ी के सांचों से धर्म ग्रन्थ छापते हैं तथा बनावटी चेहरे लगाकर सिंह गाय, मोर आदि के सरस नृत्य करते हैं।

शेरडुकपेन कामेंग सीमाप्रदेश के उत्तर में रहते हैं। ये लोग भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं और मोनपाओं के साथ इनके रीति-रिवाज मिलते-जुलते हैं। ये खेतीबारी करते हैं, बेंत और बांस से टोकरियां और बोतल आदि बनाते हैं और लकड़ी का



आसाम की आदिवासी जातियाँ



आका पति अपनी मिजि पत्नी के साथ

काम करते हैं। सर्दी के मौसम में समतल भूमि में रहने के लिए चले जाते हैं और वहाँ के लोगों के साथ व्यापार करते हैं।

मोनपा और शेरडुकपेन जाति के पास ही बुगुन (अथवा खोवा) और ह्रुसो (अथवा आका) लोग रहते हैं। ह्रुसो जाति के प्रमुख तागी राजा अहोम राजाओं के काल में उपद्रवों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। भूटान और असम से वे कपड़ा, कवच और तलवार आदि खरीदते हैं। अपनी स्त्रियों का वे बहुत आदर करते हैं। ये लोग बहुत सीधे-सादे और गरीब होते हैं। ये बर्फ से ढके हुए ऊँचे पर्वतों जल प्रवाह के कारण शब्द करती हुई घाटियों और घन जंगलों से भयभीत रहते हैं। इन्हें वे अपने देवता मानकर इनकी पूजा प्रतिष्ठा करते हैं। कुत्ते और हाथी आदि जानवरों का मांस वे भक्षण नहीं करते। मिजि (अथवा धम्मई) उत्तर की ओर बसते हैं। इस जाति के स्त्री और पुरुष दोनों ही अपने बाल बढ़ाते हैं स्त्रियाँ चाँदी के आभूषण पहनती हैं।

डाफला (अथवा बगनी) सब जातियों में मजबूत माने जाते हैं। उनका कहना है कि जिस चमड़ी पर दुनिया की अक्ल लिखी हुई थी, उसका हिस्सा उन्हें मिला था लेकिन भूख लगने पर वे उसे खा गये, क्योंकि मैदान में रहने वाले लोगों ने उसे सुरक्षित रखा। औरंगजेब के जमाने से ही वे बड़े उपद्रवी रहे हैं और उन्हें वश में करना कठिन समझा जाता रहा है। वे कामेंग के पूर्व और सुबानसिरि के पश्चिम में रहते हैं। पहले युद्ध में बन्दी किये हुए सैनिकों से वे गुलामी कराते थे और मौका पाकर अपातानी जाति के गाँवों पर धावा बोल देते थे। इस जाति के पुरुष बालों का जूड़ा बनाकर अपने मस्तक पर

बाँधते हैं। ये लोग लम्बे घर बनाकर रहते हैं, जिससे कि सारा परिवार एक साथ रह सके। तीन वर्ष तक एक घर में रहने के बाद ये दूसरा घर बनाते हैं। आजकल ये अपातानियों से व्यापार करते हैं उन्हें कपास देकर उनसे कपड़ा और चावल खरीदते हैं। बाँस और बेंत से ये बहुत सी चीजें बनाते हैं और कुत्तों को पालते हैं।

उनका एक प्रेमगीत देखिये —

हम दोनों अपने यौवन के आरम्भ में हैं
हम आपस में दोस्ती करें
हम एक दूसरे का आलिंगन करें
जैसे कि बेंत की दो पत्तियाँ करती हैं
यदि हमें पहाड़ी पर चढ़ना हो तो
हम साथ-साथ चढ़ेंगे
यदि हमें दरिया पार करना हो तो
हम साथ-साथ करेंगे

(२) सुबानसिरि सीमा प्रदेश

सुबानसिरि नेफा का दूसरा महत्वपूर्ण प्रदेश है। यह सुबानसिरि नदी के किनारे बसा हुआ है। यहाँ की मिट्टी नरम है और बारहों महीने वर्षा होती रहती है, इसलिए सन् १९४० तक इस प्रदेश में सड़कों का निर्माण न हो सका। लेकिन आखिर भारतीय इंजीनियरों की सेना अपनी जान जोखिम में डाल कर इस कार्य में जुट पड़ी और सन् १९५२ से १९५८ के बीच उन्होंने जीरो से लेकर किमिन तक सड़क



रुमा युवतियाँ



बना कर ही छोड़ी। निस्सन्देह इस साहसिक कार्य में अनेक इंजीनियरों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। इन शहीदों के नाम सड़क पर लगे हुए पत्थरों पर आज भी देखे जा सकते हैं।

इस प्रदेश की विशिष्ट जातियाँ

इस प्रदेश में अपातानी तग्नो मैलग और हिलमिरि जातियाँ निवास करती हैं। इनमें अपातानी अनेक दृष्टियों स उल्लेखनीय है। दुनिया से दूर, पूर्वी हिमालय के एक कोने में बसी हुई अपातानी जाति का पहले किसी को पता भी न था। सबस पहले १८६० में चाय की खेती करन वाले एच० एम० को यहाँ आ कर रहे। तत्पश्चात् १९४४ में हाइमन डोर्फ नाम के ब्रिटिश अफसर ने इसका पता लगाया और यहाँ रह कर उन्होंने इस जाति के रीति-रिवाज आदि का अध्ययन किया।

५००० फुट ऊँची २० वर्गमील में फैली हुई प्राकृतिक सौन्दर्य से रमणीय इस घाटी में कुल ७ गाँव हैं जिनमें २ ५२० घरों में लगभग २० हजार अपातानी रहते हैं। इनकी बोली बिलकुल भिन्न है इसलिये घाटी के बाहर के लोग उसे नहीं समझते। इस बोली में 'नी' शब्द का अर्थ मानव होता है (नागा भी 'नोक' शब्द से बना बताया जाता है, और इसका अर्थ मनुष्य है) और अपने आपको य लोग 'नी' कहते हैं इससे इस जाति की प्राचीनता का पता लगता है। आजकल भी दुनिया के आधुनिक प्रभावों से मुक्त यह जाति अपना सीधा-सादा जीवन बिताती है। गाँवों में ग्राम-पंचायतों का शासन

पनपता है और कबीलों के प्रधान की मात्रा सर्वोपरि होती है। धान की खेती यहाँ बहुतायत से होती है। हल के अभाव में किसान कुदाली से खेत गोड़ते हैं और एक वर्ष में दो फसल काटते हैं। चावल के अलावा, बाजरा और मकई की भी खेती होती है। ये लोग जंगली बैल, बकरी, सुअर और मुर्गियाँ पालते हैं। भाँति भाँति के बाँसों और दवदार के कुंज दूर तक दिखाई पड़ते हैं, बाड़ों में तम्बाकू, साग भाजी और फल-फूल बोये हुये हैं।

अपाताानी लम्बे कद के खूबसूरत लोग होते हैं। अपनी ठोड़ी पर ये गोदना गुदवाते हैं, औरतें केशों का जूड़ा बना कर अपने सिर पर बाँधती है, बेतों को कमरबन्द के काम में लेती हैं। जैसे ये लोग अच्छे किसान होते हैं वैसे ही अच्छे बुनकर भी होते हैं कपड़ा बेचने के लिए लखीमपुर जाते हैं और कपड़ा बेचकर नमक कुदाली आदि सामान खरीदते हैं। अप्रैल से सितम्बर तक वर्षा के कारण यहाँ के रास्ते खराब रहते हैं इस-लिये बाकी के महीनों में ही बाहर जा सकते हैं। विवाह-शादी के अपने परम्परागत रिवाज पालते हैं। लड़के-लड़कों की शादी में माता-पिता दखल नहीं देते। शादी होने के पहले ही लड़का या लड़की एक दूसरे के घर जा कर रह सकते हैं। अपातानियों का विश्वास है कि गर्भ धारण की स्थिति शादी के पश्चात् ही उत्पन्न होनी चाहिए, फिर भी यदि कदाचित् शादी के पहले किसी कन्या के गर्भ रह जाय तो उसे अच्छा नहीं कहा जाता।

तग्नी जाति के लोग सुबानसिरि के उत्तर-पूर्व में तथा पैलंग और हिलसिरि उत्तर में रहते हैं। सन् १९११ से पूर्व



हो गई। सन् १९५८–५९ की शीतऋतु में इन लोगों ने अपने खर्च के अलावा ११ ००० मन चावल पैदा किया और इसे बाजार में बेच दिया गया। चावल के अलावा ये लोग केले कटहल, अनन्नास आम नारंगी, अमरूद लौकी और सुपारी आदि भी पैदा करते हैं। बाँसों के नलों को गाँवों में पीने का स्वच्छ जल लाने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

गाँव का शासन पंचायतों से चलता है, इसलिए जनतंत्र की मुख्यता है। ग्राम-पंचायतों के बारे में उनके अनेक लोक-गीत प्रचलित हैं। एक लोकगीत देखिये—

"ए गाँव के निवासियो और भाइयो! हम अपने रीति-रिवाजों और पंचायतों को शक्तिशाली बनायें। हम अपने प्रस्तावों को श्रेष्ठ बनायें। हम अपने नियमों को सीधे-सादे और सबके लिए एक जैसे बनायें। जो हमारे नेता सबसे उत्तम प्रकार से बोल सकते हों वे खड़े हो जायें और हमारी बेहतरी के लिए संभाषण करें, वे इसी तरह के साहसपूर्ण शब्दों का प्रयोग करें जैसे कि कोई मुर्गा निर्लज्ज और निर्भय रूप से बाँग देता है।'

समाज में स्त्रियों को ऊँचा स्थान प्राप्त है। मिनयोंग कुशल बुनकर होते हैं और नृत्य में रुचि रखते हैं। लड़के-लड़कियों का विवाह माता पिता करते हैं। विवाह अपने अभिन्न वंश में ही होता है। पहले ये लोग लड़ाकू के रूप में प्रसिद्ध थे और गुलाम रखते थे लेकिन अब इनकी हर बात में परिवर्तन हो रहा है।

पदम पासीघाट में रहते हैं। इनके रीति रिवाज मिनयोंग



मियोंग न्यीजिम का एक दृश्य

हो गई। सन् १९५८–५९ की शीतऋतु में इन लोगों ने अपने खाने के अलावा ११ ००० मन चावल पैदा किया और इसे बाजार में बेच दिया गया। चावल के अलावा ये लोग केले, कटहल, अनन्नास आम नारंगी, अमरूद लीची और सुपारी आदि भी पैदा करते हैं। बाँसों के नलों को गाँवों में पीने का स्वच्छ जल लाने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

गाँव का शासन पंचायतों से चलता है, इसलिए जनतंत्र की मुख्यता है। ग्राम-पंचायतों के बारे में उनके अनेक लोक-गीत प्रचलित हैं। एक लोकगीत देखिये—

'ए गाँव के निवासियो और भाइयो! हम अपने रीति रिवाजों और पंचायतों को शक्तिशाली बनायें। हम अपने प्रस्तावों को श्रेष्ठ बनायें। हम अपने नियमों को सीधे-सादे और सबके लिए एक जैसा बनायें। जो हमारे नेता सबसे उत्तम प्रकार से बोल सकते हों वे खड़े हो जायें और हमारी बेहतरी के लिए संभाषण करें, वे इसी तरह के साहसपूर्ण शब्दों का प्रयोग करें जैसे कि कोई मुर्गा निर्लज्ज और निर्भय रूप से बाँग देता है।'

समाज में स्त्रियों को ऊँचा स्थान प्राप्त है। मिनयोंग कुशल बुनकर होते हैं और नृत्य में रुचि रखते हैं। लड़के लड़कियों का विवाह माता-पिता करते हैं। विवाह अपने से भिन्न वर्ग में ही होता है। पहले ये लोग लड़ाकू के रूप में प्रसिद्ध थे और गुलाम रखते थे लेकिन अब इनकी हर बात में परिवर्तन हो रहा है।

पदम पासीघाट में रहते हैं। इनके रीति रिवाज मिनयोंग





एक पमा युवक

लोगों से मिलते-जुलते हैं। कहते हैं कि जब इस पृथ्वी पर दलदल ही दलदल भरी हुई थी तो ईश्वर स्वर्ग से अवतरित हुआ और उसने मुट्ठी भर दलदल से दो भाई और दो बहनों की सृष्टि की। बड़े भाई की सन्तान पदम और छोटे भाई की संतान मिरिस कहलाई। सिमोंग अपर सियांग नदी के बायें किनारे पर तथा तगिन सियांग के पश्चिम में और सुबानसिरि के उत्तर-पूर्व में रहते हैं। प्रकृति के विरुद्ध इन जातियों को बहुत संघर्ष करना पड़ा है इसलिए ये जातियाँ काफी मजबूत और स्वभाव से परिश्रमी बन गई हैं।

(४) लोहित सीमा प्रदेश

लोहित सीमा प्रदेश अन्य प्रदेशों की अपेक्षा दुर्गम है। अनेक युरपियनों ने समय-समय पर इसका दौरा किया है। सन् १८२७ में लेफ्टिनेंट विलकोक्स, १८३६ में डाक्टर विलियम ग्रिफेथ, १८४५ में लेफ्टिनेंट रॉलेट १८५४ में फादर क्रिक तथा १९०७ में मोएस विलियमसन यहाँ आये थे। इधर नेफा के जनजातीय मामलों में भारत सरकार के सलाहकार डाक्टर वरियर एलविन ने भी इस प्रदेश में भ्रमण किया है। प्रायः युरपियन यात्रियों ने यहाँ की आदिवासी जातियों के सम्बन्ध में सन्तोषजनक विचार व्यक्त नहीं किये लेकिन डाक्टर एलविन ने ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए इन जातियों को बहुत शान्त विनम्र उत्साही और आतिथ्यप्रिय बताया है। इस दुर्गम प्रदेश में ब्रह्मपुत्र नदी बहती है। इस प्रदेश का तीन-चौथाई हिस्सा पर्वत-शृंखलाओं से व्याप्त है, बस्ती दूर-दूर

पाई जाती है। यहाँ की भूमि में लगातार कंपन होता रहता है जिससे पहाड़ियों की शिलाओं के गिरने का सदा भय बना रहता है। इस तरह गाँव के गाँव शिलाओं के नीचे दबकर चकनाचूर हो जाते हैं। १९५० का भूकम्प लोहितवासियों को सदा याद रहेगा जब कि जान-माल की यहाँ अपार क्षति हुई, जो अब तक भी पूरी नहीं की जा सकी। सन् १९५८ में डिबोंग घाटी में शिलाखंड के ढह जाने से एक साथ ५२ आदमियों की मृत्यु हो गई, जिनमें एक असिस्टेंट इंजीनियर भी था।

यह प्रदेश लोहित घाटी और डिबांग घाटी नाम के दो भागों में विभाजित है। तेजू लोहित घाटी का और रोइंग डिबोंग घाटी का हेडक्वार्टर है। इन दोनों स्थानों से कुण्डिल (पुराना सादिया) तक सड़क बनी हुई है। इस प्रदेश में तिब्बत, चीन और बर्मा के लोग आकर बस गये हैं। यहाँ से चीन को सड़क गयी है। ब्रिटिश सरकार इसे सीधी चीन तक ले जाना चाहती थी जिसके लिए अनेक अंग्रेजों ने रिमा का दौरा किया। रिमा जाने वाली सड़क लोहित नदी के किनारे-किनारे होकर गई है। लोहितपुर तक मोटर जाती है उसके बाद पैदल चलना पड़ता है। सीमाप्रान्त पर लोहित नदी को रस्से के पुल पर से सरक-सरक कर पार करना पड़ता है।

लोहित की विशिष्ट जातियाँ

लोहित सीमाप्रान्त में मिश्मी, खंप्टी और सिंगफो आदि जातियाँ रहती हैं, इनमें मिश्मी मुख्य हैं। मिश्मी बड़े शांत



मिश्मी दम्पति

और परिश्रमी होते हैं तथा जानबूझकर दूसरों को कष्ट नहीं पहुँचाते। नदी-नाले पार करने के लिए रस्सों और बेंतों के पुल बनाने में ये प्रसिद्ध हैं। इनके गाँवों में अधिक बस्ती नहीं होती। एक गाँव में २ से लगाकर ६ तक मकान होते हैं, इसलिए इन्हें पानी और दवादारू आदि की काफी तकलीफ रहती है। घर बड़े होते हैं और एक घर में १० से ६० तक आदमी रह सकते हैं। हिन्दूधर्म से ये प्रभावित हैं। मिश्मी इदु मिश्मी (चूलिकट), कामन मिश्मी (मिजू) और तरांव मिश्मी (दिगारू) नाम के तीन भागों में बंटे हुए हैं। इदु मिश्मी लोहित के उत्तर-पश्चिम में डिबांग घाटी में रहते हैं। पहले ये बर्मा में रहते थे। अपने बालों को ये सिर के चारों तरफ से गोल काटते हैं। कामन मिश्मी लोहित नदी के ऊपरी भाग में रहते हैं। खेती-बारी ये नहीं करते बेंत काटने में ये चतुर होते हैं। तम्बाकू और अफीम के ये बहुत शौकीन हैं और इसके लिए कांसे या चाँदी के पाइप इस्तेमाल करते हैं। तरांव मिश्मी लोहित नदी के निचले हिस्से में रहते हैं। ये लोग बहुत अच्छे बुनकर होते हैं, तथा कस्तूरी मोम हाथी-दांत रबर और सूठ आदि को मैदानों में ले आकर बेचते हैं।

खम्टी लोहित प्रदेश के उत्तर में चौखाम क्षेत्र में रहते हैं। ये ऊँचे कद के और खूबसूरत होते हैं। लगभग २०० बरस पहले ये बर्मा से आकर यहाँ बस गये थे। ये ताइ परिवार की भारत चीनी भाषा बोलते हैं। नेफा की आदिवासी जातियों में केवल इन्हीं की लिखित भाषा है। बौद्ध धर्म के ये उपासक

हैं और हीनयान पंथ को मानते हैं। ये लोग नदी के बांधों से खेतों की सिंचाई करते हैं। चौखम गाँव के बांध से ५०० एकड़ जमीन की सिंचाई होती है जिससे यहाँ अन्न की पैदावार बढ़ गई है। श्री चौखम गोहइन नदी के किनारे सुन्दर घर बनाकर रहते हैं लोकसभा के वे माननीय सदस्य हैं।

खम्प्टियों की भाँति सिंगपो भी पहले बहुत लड़ाकू माने जाते थे लेकिन आजकल दोनों ही शान्त जीवन व्यतीत करते हैं। सिंगपो बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, और ये भी बर्मा से यहाँ आकर रहने लगे हैं। ये चावल की खेती करते हैं। ये लोग वृक्ष की पत्तियों पर लिखते हैं, इससे पता लगता है कि इनकी बोली की कोई लिपि रही होगी लेकिन आजकल अपनी लिपि को ये भूल गये हैं। अनेक देवी-देवताओं में ये विश्वास करते हैं और इसलिये किसी रोगी को अच्छा करने के लिए सुअर या मुर्गे की बलि चढ़ाते हैं।

(५) तिराप सीमा प्रदेश

तिराप सीमा प्रदेश में तिराप नदी बहती है सन् १९५४ से यह नाम इसे दिया गया है। तिराप उत्तर में लोहित सीमा प्रदेश, पूर्व में बर्मा, दक्षिण में नागा-हिल्स त्वेनसांग प्रदेश और पश्चिम में असम से घिरा हुआ है। सापेकाटी, मामरूप, नहरकटिया और मार्घेरिटा स्टेशनों से यहाँ पहुँचते हैं। मत लब यह कि अन्य प्रदेशों के मुकाबले में यह प्रदेश सुगम है। खोनसा यहाँ का डिवीजनल हैडक्वार्टर है। मार्घेरिटा से खोनसा जाने के लिए सड़क है और इस सड़क पर ४ मील चलने के

पश्चात् हम तिराप पहाड़ियों में प्रवेश करते हैं। यहाँ से दूर-दूर पहाड़ियों की चोटियों पर बसे हुए आदिवासियों के गाँव दिखाई देते हैं। सारा प्रदेश विशालकाय वृक्षों, सुन्दर झाड़ियों और हरी-भरी लताओं से घिरा हुआ है झरने और नदी-नाले यहाँ देखने में नहीं आते। इसलिए पुल बनाने की इतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि नेफा के अन्य प्रदेशों में। हाथी आदि जङ्गली जानवरों से व्याप्त घने जङ्गल दूर तक बसे गये हैं, और घाटियाँ मक्खी-मच्छर और सांप आदि विषैले जन्तुओं से व्याप्त हैं। नागा-हिल्स के रास्ते ढालू होने के कारण बड़े दुर्गम हैं जमीन पर कीचड़ ही कीचड़ बिछी हुई है, सांप पैरों के नीचे से सर्र करके निकल जाते हैं हवा में कीड़े-मकोड़े भिनभिनाते रहते हैं, झाड़-झंखाड़ अपने कांटेदार सनों को उठाये खड़े हैं और प्यास लगने पर एक बूंद पानी भी यहाँ मयस्सर नहीं होता।

तिराप के उत्तर-पूर्व में पांगसू दर्रा दिखायी दे रहा है। यहाँ से अहोम खंप्टी और सिंगफो लोगों ने हिन्दुस्तान में प्रवेश करके असम की संस्कृति को प्रभावित किया था। यहीं होकर बर्मी सेना ने असम पर आक्रमण किया और असम की घाटी को असम के ही स्त्री-पुरुषों के रक्त से रंजित कर दिया। द्वितीय विश्व-युद्ध में भारतीय सेना ने जापानी सेनाओं को घेरने के लिए यहीं से कूच किया था।

इस प्रदेश की भाषा आदि जातियाँ

इस प्रदेश में नागा जाति की संख्या ही अधिक है। सन्

१२२६ में नागाओं ने ही पहले-पहल अहोमों के आक्रमण का विरोध किया था, और इस विरोध की उन्हें कीमत चुकानी पड़ी। अहोम इतने क्रूर थे कि छोटी सी बात पर वे अपराधी के सिर को धड़ से उड़ा देने में सकोच न करते थे। आश्चर्य नहीं कि नागा जाति ने अपने शासकों से ही सिरों के शिकार करने की विद्या सीखी हो। लेकिन आजकल नेफा के अन्य आदिवासियों की भाँति नागा लोग भी मिल-जुलकर रहते हैं और सहयोगपूर्ण जीवन बिताते हैं। यदि कभी गाँव का कोई घर आग से जलकर भस्म हो जाय तो सब मिलकर उसे फिर से बनाते हैं। औरों की अपेक्षा इनके गाँव बड़े होते हैं और एक गाँव में ३०० से अधिक परिवार रहते हैं। कबीले के नेता का घर सबसे बड़ा होता है। नागा लोग खेती करते हैं वे बड़े अच्छे शिकारी होते हैं और हाथी का शिकार करने में कुशल समझे जाते हैं। विवाह होने के पहले ही लड़के और लड़कियाँ साथ रहने लगते हैं और यदि लड़की गर्भवती हो जाये तो फिर दोनों का विवाह हो जाता है। विवाह की यह परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आती है। दूसरे विश्वयुद्ध तक नागा-हिल्स में कोई नहीं जा सकता था। उसके पश्चात् नागालैंड में राजनीतिक हलचल मची जिससे इस प्रदेश में आजकल स्वायत्त शासन हो गया है। डिप्टी कमिश्नर कोहिमा में बैठकर यहाँ का शासन चलाते हैं।

नागा जाति मौबटे और बांचू नामक दो भागों में विभक्त है। मौबटे अपने को हिन्दू बताते हैं और वष्णवधर्म को मानते हैं। बांचू हड्डी, सींग, कौडी और हाथीदांत के गहने पहनते

हैं, उनकी औरतें अपने कानों और केशों को भाँति भाँति के पत्तों और फूलों से सजाती हैं।

तंग्स और सिंगपो भी इसी प्रदेश के निवासी हैं जो बर्मा से यहाँ आकर बस गये हैं।

आदिवासी जातियों के विश्वास

इस प्रकार हम देखते हैं कि नेफा की आदिवासी जातियों के भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पालित-पोषित होने के कारण इनकी प्रवृत्तियाँ भिन्न हैं और इनके परम्परागत विश्वास भी भिन्न हैं। सभी जातियाँ किसी न किसी रूप में किसी विश्व सत्ता में विश्वास करती हैं और इस सत्ता को न्यायवान और परोपकारी मानती हैं। पृथ्वी और आकाश दो प्रेमी हैं। दोनों के प्रेम-स्वरूप वृक्ष और घास आदि प्राणियों की उत्पत्ति हुई। लेकिन दोनों को अब अलग हो जाना चाहिये नहीं तो उनके नन्हें-नन्हें प्यारे शिशुओं को विकास का अवसर न मिलेगा। एक बार पृथ्वी ने आकाश से मिलने का इरादा किया। लेकिन जस ही वह ऊपर की ओर जा रही थी, उसे सूर्य और चन्द्र दिखाई दे गये। उनसे लज्जित होकर वह बीच में से ही लौट आई। उस समय उसका जितना हिस्सा ऊपर उठ रहा था, वह हमेशा के लिए बड़े-बड़े पहाड़ों के रूप में बदल गया।

इन्द्र-धनुष को एक पुल बताया गया है जिसे पार करके वधू अपने प्रियतम से मिलने उसके घर में प्रवेश करती है। कुछ लोगों ने इसे ऊपर चढ़ने का जीना कहा है। भगवान् इस पर चढ़कर चन्द्रलोक-निवासी अपनी प्रेयसी से मिलने

पाते हैं।

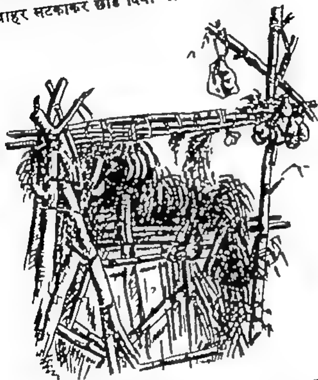
कहते हैं कि प्रारम्भ में हाथी अपने पंखों से आकाश में उड़ सकते थे, लेकिन उन्होंने घरों की छतों पर कूद-कूदकर उन्हें तोड़-फोड़ दिया। यह उत्पात देखकर देवताओं ने उनके पंख काट दिये।

बंदर के सम्बन्ध में कहा है कि पहले वह भी आदमी ही था। लेकिन वह इतना काहिल और मूर्ख था कि उसे जङ्गल में भगा दिया गया। वहाँ पर वह अपनी टांगों के बीच म मूसल दबाकर इधर-उधर दौड़ने लगा और वही मूसल उसकी पूँछ बन गई।

मृत्यु के संबंध में भी इन जातियों की भिन्न भिन्न कल्पनायें हैं। कहते हैं कि मृत्यु जब इस दुनिया में अवतरित हुई तो केवल आदमी ही नहीं, पशु-पक्षी भी अमर थे। लेकिन रोग का यह बात पसन्द नहीं थी। पहले-पहल उसने मुर्गे को मृत्यु प्रदान की मुर्गे ने उसे सांप को प्रदान किया। सांप को मरा हुआ देख अजगर म ना कि इसे हम अपने पास रखेंगे तो हम सब मर जायेंगे सोचकर अजगर ने वह झट से मनुष्य को दे दी। मनु भी मरने लगा। सांप का मरना बन्द हो गया वह केवल अपनी कांचली बदलकर शरीर परिवर्तन करने लगा।

मृतक को जङ्गल में छोड़ देने दरिया में बहा देने जमीन में गाड़ देने और अग्नि में की सभी प्रथायें आदि वासी जातियों में पायी जाती। मृतक के साथ उसका धनुष-बाण, भाला, कुदाली, सन्दूक, पान-तम्बाकू और कीमती

आभूषण आदि उसकी कब्र के अन्दर गाड़ दिये जाते हैं, या उन्हें बाहर लटकाकर छोड़ दिया जाता है। क्योंकि आदिम



किसी आदिवासी की क़ब्र पर बहुत सा सामान लटका हुआ है।

जातियों का विश्वास है कि मनुष्य को मृत्युलोक में अपना घर बसाने के लिए इन सब वस्तुओं की आवश्यकता होगी।

आदिवासी जातियों की समस्यायें

चीनी आक्रमण के पश्चात् नेफ़ा के आदिवासियों की

समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जा रहा है। सर्व प्रथम उनकी आर्थिक समस्या पर ध्यान देने की आवश्यकता है। जब तक उनके खेतों में पर्याप्त अन्न पैदा नहीं होता और उन्हें पेटभर भोजन नहीं मिलता, जब तक वे स्वस्थ जीवन व्यतीत नहीं करते, समुचित शिक्षा प्राप्त नहीं करते उनके उद्योग धन्धों का पर्याप्त विकास नहीं होता, और आधुनिक विज्ञान का लाभ उन्हें नहीं मिलता, तब तक उनकी सर्वांगीण उन्नति नहीं हो सकती। जैसे एक ओर हम आदिवासियों को उपेक्षित नहीं छोड़ सकते वैसे ही उनके जीवन में एकदम क्रान्तिकारी परिवर्तन भी नहीं ला सकते, क्योंकि इससे हमारी प्रतिरक्षा की समस्यायें बढ़ ही जायेंगी। आज आवश्यकता है कि साहबी ठाठ में रहने वाले हमारे अफसर लोग उन्हें अपने से कम सभ्य, पिछड़े हुए, अथवा केवल संग्रहालय सजाने की वस्तु न समझ, उनकी बोलियों को सीखकर उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण बराबरी का बर्ताव करें। उनकी योग्यता और परम्परा के अनुकूल उनकी कला और संस्कृति का विकास होने पर ही नेफा की ४ लाख जन-जातियों में जागृति उत्पन्न होगी और तब वे किसी भी आक्रमण का डटकर मुकाबला करने में समर्थ हो सकेंगी।

८

काश्मीर का गूढ़ रम्य प्रदेश—लद्दाख

२० अक्तूबर, १९६२ को चीनी सैनिकों ने लद्दाख के दौलतबेग ओल्डी पर आक्रमण कर दिया तथा सिरिजाप, हॉट



स्प्रिंग, रेजंग-ला, चांग-ला, जारा-ला और डेमचोक की चौकियों पर एक के बाद एक कब्जा करते चले गये। यहीं से लद्दाख के इतिहास में एक नया अध्याय खुलता है, तथा जम्मू और काश्मीर का यह उपेक्षित हिस्सा दुनिया के नक्शे में चमक

उठता है। लद्दाख भारतवर्ष का सबसे ऊँचा प्रदेश है जहाँ लोग बसते हैं। इसकी औसत ऊँचाई १२ हजार फुट है, कुछ शृंखलायें तो २१ हजार फुट तक चली गई हैं जिन पर चढ़ते समय हवा के अतिशय झीनी होने के कारण दम फूलने लगता है। बाल्तिस्तान को मिलाकर लद्दाख का क्षेत्रफल लगभग ४६ हजार वर्गमील है, लेकिन बस्ती दूर-दूर होने के कारण जन संख्या कुल दो ही लाख है। स्त्रियों की संख्या दो तिहाई से कम नहीं। बहुपत्नीत्व प्रथा के कारण यहाँ बड़े भाई की ही शादी होती है, लेकिन उसकी पत्नी छोटे भाइयों की भी पत्नी कही जाती है, यद्यपि सन्तान बड़े भाई की ही मानी जाती है। यदि सन्तान पैदा न हो तो फिर से शादी करने की रुका वट नहीं। इससे यहाँ की जनसंख्या में वृद्धि न हो सकी।

हिम का प्रदेश

लद्दाख उत्तर में काराकोरम की शृंखलाओं पूर्व में तिब्बत, पश्चिम में काश्मीर, तथा दक्षिण में कांगड़ी घाटी से घिरा हुआ है। इस निर्जन प्रदेश में बर्फ से ढंके बंजर पहाड़ ही पहाड़ दिखाई देते हैं। चारों ओर निस्तब्धता का साम्राज्य है जिससे वृक्ष के पत्तों के गिरने तक की ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। यहाँ दो ही ऋतुएं होती हैं, एक गर्मी और दूसरी सर्दी। गर्मी में बहुत गर्मी होती है रातभर गर्म हवा चलती रहती है, सर्दी में बहुत सर्दी पड़ती है पानी जमकर बर्फ बन जाता है। टमाटर, प्याज, संतरे आदि घास और फल पत्थर के समान कड़े हो जाते हैं। इसी तरह आग पर पकाई हुई कोई चीज यदि कुछ

मिनट तक रखी रह जाये तो वह बहुत सख्त हो जाती है और तोड़ने से भी नहीं टूटती। मई, जून, जुलाई गर्मी के महीने होते हैं, बाकी नौ महीने सर्दी के हैं। वर्षा साल भर में कुल दो-तीन इंच होती है, इसलिये खेतों की सिंचाई नदी के पानी से की जाती है। वृक्षों को भी सींचकर बड़ा किया जाता है। हाँ, हिमपात के कारण खेती-बारी को बहुत नुकसान हो जाता है। दिन रात बर्फ के बंवडर चला करते हैं। नवम्बर के महीने में अत्यधिक बर्फ गिरने के कारण जोजी-ला से काश्मीर जाने का मार्ग बन्द हो जाता है। कोक्सर का झूलता हुआ पुल बर्फ से इतना ढँक जाता है कि उसके ऊपर चलना ही असंभव है। सन् १८३८ में अत्यधिक हिमपात के कारण यहाँ के गाँव बर्फ में दब गये थे जिससे बहुत से लोगों की जान चली गई। चीनी भाषा में लद्दाख को खा-छन-पा अर्थात् हिम का प्रदेश कहते हैं। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में फाहियान जब यहाँ आया तो उसने इसी नाम से लद्दाख का उल्लेख किया है।

नमक की झीलें

सिन्धु यहाँ की मुख्य नदियों में से है जो इन्द्रनील मणि की धार जैसी निर्द्वन्द्व भाव से बहती है। नदियों पर लकड़ी, पत्थर, लोहे, और नावों के पुल बने हैं। कहीं लटकते हुए पुल भी हैं जिन्हें झूलकर पार करना पड़ता है। कितनी ही यहाँ प्राकृतिक घाटियाँ हैं जो ६ हजार फुट से लेकर १७ हजार फुट तक ऊँची हैं। चांग चेन्मो यहाँ की एक सुप्रसिद्ध घाटी है। सन्

१८६८ में यहाँ पानगोंग के घुमक्कड़ अपनी भेड़-बकरियाँ चराने आया करते थे, और पामजाल नदी पर पड़ाव डालकर रहते थे। लकड़ी और ईंधन यहाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। यहाँ बहुत बड़ी-बड़ी झीलें हैं जिनमें खारा पानी भरा रहता है। दरअसल यहाँ के निवासियों के लिए नमक उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि जीवन। कहते हैं कहीं-कहीं समुद्र के मरुस्थल में मीठे पानी के झरने देखने में आये हैं, इसी तरह यदि पहाड़ों के उच्च शिखरों पर खारे पानी की झीलें मिल जायें तो आश्चर्य की क्या बात है ? पानगोंग और स्पांगुर यहाँ की प्रसिद्ध झीलें हैं। पानगोंग का अर्थ होता है 'सुविस्तृत गर्त'। लगभग १४००० फुट की ऊँचाई पर बनी हुई यह झील ८५ मील लम्बी और ३ मील चौड़ी है। पानी इसका स्वच्छ और बहुत ही खारा है। स्पांगुर झील से गंधक की भाप निकलती रहती है जिससे सांस लेने में तकलीफ होती है। इस झील के दोनों किनारों पर भारत सरकार की बिना अनुमति के ही चीनी सैनिकों ने सड़कें बना ली हैं। अन्य झीलों में त्सोम्बोरिरि, योगजि-चम्मो आदि मुख्य हैं। झीलों के सिवाय कितने ही गर्म पानी के सोते यहाँ दिखाई देते हैं। स्वाद और गंधविहीन इन सोतों के पानी में औषधियों के गुण पाये जाते हैं।

बर्फ से ढँके हुए दर्रे

लद्दाखी भाषा में ला का अर्थ दर्रा होता है। यहाँ बहुत से दर्रे हैं जैसे रैलंग-ला, चांग-ला, चर-ला जोजी-ला, लानुग-

ला आदि। चांग-ला में बहुत जोर की बर्फ पड़ती है, तापमान शून्य डिग्री से १० डिग्री कम हो जाता है, बहुत से दर्रे तो १५ फुट ऊँची बर्फ की तह से ढँक जाते हैं। चांग-ला और मर-ला दर्रों में भारतीय जवान और चीनी सैनिकों में घनघोर युद्ध हुआ था।

खेती-बारी

लद्दाख में धान की खेती होती है। जिन पहाड़ियों पर जंगल नहीं वहाँ खेतों में धान रोपे जाते हैं। मई महीने में किसान खेत जोतकर उसमें धान बो देते हैं। खेतों में पुरुषों की अपेक्षा सुन्दर रमणियाँ ही अधिक दिखाई देती हैं। वैसे भी पुरुषों से स्त्रियों की संख्या अधिक है। धान के अलावा जौ गेहूं और मक्का की खेती होती है। फलों में अखरोट, खुबानी, बादाम और सेब, तथा साग-सब्जी में मटर, शलजम और सरसों आदि पैदा होते हैं।

शीत ऋतु में, सदा हरे रहने वाले चीड़, देवदार और भोजपत्र आदि के वृक्षों से इस पहाड़ी प्रदेश की शोभा बढ़ जाती है।

ऊन का व्यापार

लद्दाख अपनी भेड़ और बकरियों के ऊन के लिए दूर-दूर तक विख्यात है। ऊन से बढ़िया शाल-दुशाले बुने जाते हैं जो देश-विदेश में बड़ी कीमतों पर बिकते हैं। भेड़ों को वाहन के काम में भी लिया जाता है। कनिंघम ने ६ हजार भेड़ों के रेवड़

का उल्लेख किया है इन भेड़ों पर घास-पुआले, ऊन, सुपारी, गंधक, सुहागा आदि सामान लादकर व्यापारी लोग बाजार आ रहे थे। आगे और पीछे चलने वाले सिंह के समान भयानक कुत्ते रेवड़ की रक्षा करते चलते हैं। घोड़े, बैल, चमरी गाय, जंगली गधा, कस्तूरी मृग खरगोश, तीतर और बतख आदि भी इस प्रदेश में पाये जाते हैं।

बौद्ध धर्म का केन्द्र

यहाँ दरद जाति के लोग निवास करते थे महाभारत में इनका उल्लेख है। सम्राट् अशोक के समय इस प्रदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। अशोक व कनिष्क ने बौद्ध स्तूपों का यहाँ निर्माण कराया था। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में जब फाहियान ने इस प्रदेश की यात्रा की तो बौद्ध धर्म यहाँ फैला हुआ था। सन् ७३३ में लद्दाख में ललितादित्य मुक्तदीप नामक हिन्दू राजा राज्य करता था।

तिब्बत का आक्रमण

८ वीं शताब्दी में तिब्बत के राजा ने लद्दाख पर आक्रमण किया और इसे अपने अधिकार में कर लिया। तिब्बत वालों का राज्य १०वीं शताब्दी तक चलता रहा, उसके बाद लद्दाख तिब्बत से अलग हो गया। यद्यपि लद्दाखवासियों ने बहुत पहले ही बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था फिर भी तिब्बत के प्रभाव के कारण लामाओं के बौद्ध धर्म का यहाँ प्रचार हुआ। आगे चलकर तो लामा लोग भूस्वामी बन बैठे और साधारण किसान



सद्‌ग्राम के कतिपय निर्वासित नर-नारी

के पास जोतने के लिए जमीन तक न रह गई।

मुग़ल सेनाओं का अधिकार

१० वीं शताब्दी में काश्मीर के राजा ने लद्दाख को अपने राज्य में मिला लिया, और उसकी सेनायें पूर्वी तिब्बत तक पहुँच गईं। सन् १५३१ तक लद्दाख मुसलमान बादशाहों के प्रभाव से मुक्त रहा लेकिन १७वीं शताब्दी में मुगल सेनाओं ने यहाँ पहुँचकर लूटमार की और लेह पर अधिकार कर लिया। सन् १६६५ में औरंगजेब खुद काश्मीर आया और उसने यहाँ के ग्याल्पो (राजा) को इस्लाम अंगीकार करने के लिए बाध्य किया। सन् १६८१ में तिब्बत और मंगोल के शासकों ने मिलकर जब लद्दाख को घेर लिया तो काश्मीर के मुसलिम गवनर ने लद्दाख की रक्षा के लिए सेना भेजी। दोनों तरफ से घमासान लड़ाई हुई। अन्त में १६८४ में दोनों पक्षों में संधि हो गई तथा लद्दाख और तिब्बत की जो सीमायें पहले से चली आती थीं, उन्हें इस संधि में मान्य किया गया। सन् १८४२ में गुलाब सिंह के सेनापति जोरावरसिंह ने लद्दाख को जम्मू और काश्मीर राज्य में मिला लिया और तब से अब तक वह उसी रूप में चला आता है।

लद्दाख के सीमा प्रान्त की मान्यता

वास्तव में ईसवी सन् की १०वीं शताब्दी में जब स्किद्द ईद-ग्मीम नामक राजा ने हिमालय के बाहर फैले हुए अपने राज्य को अपने तीन पुत्रों में बाँट दिया था, तभी लद्दाख का

सीमा प्रान्त भारत और तिब्बत की सरकारों द्वारा मान्य किया जा चुका था। तत्पश्चात् भारत और तिब्बत की सरकारों ने १६८४ में फिर से इस सीमा को मान्य किया। इसके बाद १८४१ में सेनापति जोरावरसिंह ने तिब्बत पर चढ़ाई कर दी। तिब्बत की सहायता के लिए चीन के सम्राट् ने सेनायें भेजीं। दोनों सेनाओं में जोरों का युद्ध हुआ। लेकिन इस समय १८४२ में दोनों पक्षों में जो संधि हुई उसमें भी पुरानी सीमाओं को ही स्वीकार किया गया। संधि पर हस्ताक्षर करने वालों में एक ओर से श्री कालसाजी और श्री साहूबहादुर राजा गुलाबसिंह तथा दूसरी ओर से चीन के सम्राट् और ल्हासा के लामा गुरु मौजूद थे। १८५२ में काश्मीर के राजा और दलाई लामा के बीच जो समझौता हुआ उसमें भी इन्हीं सीमाओं को मान्य किया गया। चीन के इम्पीरियल कमिश्नर द्वारा २० जनवरी, १८४७ को लिखे हुए पत्र में इसकी स्वीकृति का स्पष्ट उल्लेख है।

चीनी सरकार की अस्वीकृति

इससे स्पष्ट है कि सन् १९५९ तक लद्दाख और तिब्बत के सीमाप्रान्त के संबंध में किसी तरह का कोई विवाद नहीं था। २६ सितम्बर १९५९ को भारत के प्रधान मंत्री पंडित नेहरू ने चीन के प्रधानमंत्री चो-एन-लाई को पत्र लिखा जिसमें उन्होंने १६८४ की संधि का उल्लेख किया। चो-एन लाई ने २६ दिसम्बर १९५९ के अपने पत्रोत्तर में इस संधि का निषेध नहीं किया। लेकिन इसके बाद अचानक ही २२ जुलाई,

१९६० के पत्र में चीनी सरकार ने इस सीमा के अस्तित्व को यह कहकर मेट दिया कि समकालीन तिब्बत की किताबों में इस संधि का उल्लेख ही नहीं मिलता। और १८४२ की संधि को यह कहकर उड़ा दिया गया कि यह संधि सीमाओं को निर्धारित करने के लिए नहीं थी इसमें तो केवल एक दूसरे पर आक्रमण न करने का इकरार किया गया था। लेकिन ध्यान रखने की बात है कि तिब्बत सरकार के ३२ नवम्बर १९२१ के पत्र में उक्त सीमाओं को स्वीकार करते हुए भारत को आश्वासन दिया गया है कि इस संबंध में आगे अथवा कभी भी तिब्बत की सरकार हस्तक्षेप न करेगी।

चीनी सरकार द्वारा सीमा-वृद्धि

लेकिन १९६० में पीकिंग सरकार ने सीमा सम्बन्धी सभी प्रमाणों और दलीलों को अस्वीकार कर दिया, और धीरे-धीरे वह अपनी सीमा बढ़ाती गयी और आश्चर्य है कि इसका भारत सरकार को पता तक न चला! मार्च, १९५६ में ३००० श्रमिकों की सहायता से चीनी सैनिकों ने सड़क बनाना प्रारम्भ किया और १८ महीनों में ८०० मील लम्बी सड़क बनाकर तयार कर ली, जिसने सिक्यांग और अक्साई चीन को मिला दिया। २० अक्तूबर, १९६२ को एक साथ नेफा और काराकोरम दर्रे की तलहटी में १६,४०० फुट पर अवस्थित दौलतबेग ओल्डी पर आक्रमण कर चीन ने उस पर अधिकार कर लिया। २ अक्तूबर को भारतीय सेना ने इस दाब को खाली कर दिया। उसके बाद चीनियों ने कोंगका

और हॉट स्प्रिंग की रक्षा-चौकियों को हथिया लिया।

चूशुल पहाड़ का युद्ध

लेकिन सबसे घमासान युद्ध हुआ १४२१०० फुट ऊँचे चूशुल पहाड़ पर। एक ओर कठोर प्रकृति पर विजय प्राप्त करना था, और दूसरी ओर आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से लस चीनी सैनिकों से लोहा लेना था। इन दोनों ही शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए असीम धैर्य और मनोबल की आवश्यकता थी। सँकरी घाटी में बसा हुआ छोटी छोटी पहाड़ियों से घिरा हुआ होने के कारण यह पहाड़ अत्यन्त मनोरम जान पड़ता है। यहाँ चूशुल नाम का एक छोटा-सा गाँव है जिससे यह पहाड़ भी इसी नाम से कहा जाता है। रसद ले जाने वाले हवाई जहाज के अड्डे पर बमबारी करके चीनी उसे खराब करने और उस पर अधिकार कर लेने की बहुत कोशिश कर रहे थे। इसके सिवाय दुर्गति जाने वाली सड़क शत्रु की तोपों की सीमा में आती थी इसलिए इसका उपयोग करना भी खतरे से खाली न था। इस तरह दुनिया से अलग पड़े हुए इस प्रदेश से केवल हैलिकोप्टर द्वारा ही घायल और बीमार सिपाहियों को अन्यत्र ले जाया जा सकता था। रात्रि के समय यहाँ शून्य से भी ४० डिग्री कम तापमान हो जाता है जिससे पहाड़ों के झरने तक जमकर बर्फ बन जाते हैं। ऐसी असह्य शीत में जवान बर्फ की परत तोड़-तोड़कर उसमें से अपने टीन के डिब्बों में भोजन बनाने और पीने के लिए पानी इकट्ठा करते और भारी बन्दूकों को कंधों पर रखे हुए, बर्फ के बोझ से दबे झुके हुए ढालू रास्तों का पार करते। कुहरे

श्रौर बर्फ के बीच, मर्फीली भयकर सर्दी में इतनी ऊँचाई पर साधारण श्रादमी के लिए जिन्दा रहना भी कठिन है। इसके सिवाय तिब्बत के पठार से चीन तक ग्राने-जाने के लिए मोटर की पक्की सड़कें बनी हुई हैं जबकि हमारी सेनाश्रों को पहाड़ी ढलानों पर रहकर काम करना पड़ता है। पहाड़ियों पर श्रौर उनके बीच-बीच में चारों श्रोर जङ्गल हैं जहां पहाड़ी खच्चर श्रौर टट्टू तक नहीं पहुँच सकते। ऐसे स्थानों पर हमारे सिपाहियों को रेंगकर जाना पड़ता है। फिर भी हमारे जवान श्राखिरी दम तक दुश्मन का मुकाबला करते रहे।

रसद पहुँचाने की कठिनाई

जसा कहा जा चुका है इन क्षेत्रों की सबसे बड़ी कठिनाई है सेना के पास जरूरी सामान पहुँचाना। यह सामान केवल हवाई जहाज के जरिए ही गिराया जा सकता है। कभी तो सब जगह बर्फ-ही-बर्फ छायी रहती है जिसके कारण कई-कई दिन तक हवाई जहाज का श्रावागमन बन्द रखना पड़ता है। चालक को श्रनगिनत सँकरी घाटियों में से होकर हवाई जहाज ले जाना पड़ता है। यदि जरा भी श्रसावधानी हो जाये तो उसका श्रौर जहाज का नाम-निशान भी कहीं न मिले। इल्युशिन डकोटा श्रौर फेयर चाइल्ड पकेट हवाई जहाज १६ हजार फुट से लेकर २० हजार फुट की ऊँचाई तक ही उड़ सकते हैं, ऐसी हालत में यदि जहाज १०० फुट भी इधर-उधर हो जाए तो फिर हड्डी-पसली का कहीं पता न चले।

११,५०० फुट ऊँची लद्दाख की राजधानी लेह यहाँ का

मुख्य हवाई अड्डा है। १५ हजार फुट ऊँचा सत्तेर-पास अपनी रसद के लिए पूरी तरह से हवाई जहाज पर ही निर्भर रहता है। यदि सामान पहाड़ियों पर गिराना हो तो काफी ऊँचाई से गिराया जाता है। ऐसी हालत में यदि थोड़ा भी हवा का झोंका आ जाए, तो संभव है यह सामान अपनी सेना के पास न पहुँचकर शत्रु-सेना के कैम्प में या बड़े-बड़े गड्ढों में पहुँच जाए। जिस स्थान पर सामान गिराना होता है वहाँ ठीक निशाना लगाने के लिए जहाज को अनेक चक्कर लगाने पड़ते हैं। बहुत से स्थान इतने सँकरे हैं कि सामान गिराकर जहाज का जल्दी से मुड़कर लौटना लगभग असंभव हो जाता है। पहले इन स्थानों में हेलीकोप्टर उड़ाने की इजाजत नहीं थी, लेकिन युद्ध जन्य परिस्थिति के कारण, जान का खतरा उठाकर भी यह कार्य हाथ में लिया गया, और कितने ही चालक एक महीने में १६२ घंटे उड़ान भरकर सेनाओं के पास जरूरी रसद पहुँचाते रहे। इसमें संदेह नहीं कि अचानक ही चीनी आक्रमण के कारण हमारी सेनाओं की जैसी चाहिए वैसी तैयारी न हो सकी, फिर भी हमारे जवानों ने अपनी जान की बाजी लगाकर लद्दाख की जो लड़ाई लड़ी है वह इतिहास में स्मरणीय रहेगी।

: ६

मैकमोहन रेखा



भारत और चीन के बीच की सीमा दो हजार मील से भी अधिक दूर में फैली हुई है। इस सीमा के बहुत बड़े हिस्से में हिमालय पर्वत शृंखलाएँ हैं, जिन्हें दुनिया के इतिहास में आज तक किसी सेना ने पार नहीं किया था। भारत और चीन की सीमा के पश्चिमी भाग का कुछ हिस्सा तिब्बत के साथ और कुछ सिंक्यांग के साथ मिला हुआ है। इस सीमा के इस पार लद्दाख, जम्मू और काश्मीर राज्य का इलाका है। सीमा का बिचला हिस्सा हिमाचल प्रदेश पंजाब और उत्तर प्रदेश से मिला हुआ है। इसमें बाड़ाहोती (जिसे चीनी वूजे कहते हैं), दमजन, संगचामाला और लपथाल क्षेत्र शामिल हैं। भारत-

चीन की सीमा का तीसरा पूर्वी हिस्सा नेफा प्रदेश से मिला है। यहाँ हिमालय पर्वत श्रृंखलाएँ सिक्किम और भूटान के साथ भारत की सीमा से लेकर बर्मा के साथ भारतीय सीमा तक फैली हुई हैं। पश्चिम से पूर्व तक फैली हुई इसी रेखा को मैकमोहन रेखा कहा जाता है।

शिमला कान्फ्रेंस का समझौता

सर हैनरी मैकमोहन एक अंग्रेज अफसर थे जिन्होंने तिब्बत के दूत लोन चेन शातरा के साथ पत्र-व्यवहार करके एक मसविदा तैयार किया जिसके द्वारा परम्परागत तिब्बत के साथ उत्तर-पूर्वी सीमा को निर्धारित किया गया। मैकमोहन ने यह सीमा अपनी ओर से नहीं बनायी, उन्होंने इतिहास, प्रचलित परम्परा तथा वास्तविक स्थिति की बुनियाद पर जो सीमा सदियों से चली आ रही थी उस ही नक्शे पर खींच दिया। भारत चीन का सीमा सम्बन्धी यह समझौता ३ जुलाई, १९१४ को शिमला में सम्पन्न हुआ। चीनी प्रजातन्त्र राज्य के राष्ट्रपति और तिब्बत के दलाई लामा की ओर से तिब्बती दूत लोन-चेन शातरा ने दोनों नक्शों पर हस्ताक्षर करके उन पर मोहर लगा दी, तथा ब्रिटिश भारत सरकार की ओर से मैकमोहन ने इन नक्शों को खास निशान से चिह्नित किया। इस प्रकार शिमला कान्फ्रेंस में भारत चीन और तिब्बत तीनों ने ही हिस्सा लिया था।

चीन और तिब्बत के सम्बन्ध

बात यह थी कि सन् १९१० में चीनी सेनाओं ने जब

तिब्बत पर आक्रमण कर ल्हासा पर अधिकार कर लिया तो उस समय चीन में मंचू राजाओं का राज्य डांवाडोल हो रहा था। १० अक्तूबर, १९११ को मंचू राजाओं का खात्मा हो गया और १ फरवरी, १९१२ को नानकिंग में डाक्टर सनयात सेन को प्रजातंत्रवादी चीन का प्रथम राष्ट्रपति घोषित किया गया। इस समय तिब्बत का दलाई लामा, जो भागकर सिक्किम चला गया था ल्हासा लौट आया तथा उसने अपनी राजनीतिक और आध्यात्मिक सत्ता को पुनः प्राप्त कर लिया। चीन की कमजोर परिस्थितियों का लाभ उठाकर चीनियों के विरुद्ध तिब्बत में विद्रोह मच गया और उनके प्रतिनिधियों को ल्हासा से भगा दिया गया। इस अवसर पर तिब्बत की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी गयी और यह अखंड स्वतंत्रता १९१२ से १९५० तक कायम रही। फिर भी चीन तिब्बत के ऊपर अपने आधिपत्य का दावा करता रहा।

लेकिन चीन के साथ तिब्बत की संधि नहीं हुई थी इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में तिब्बत की स्वतंत्रता मान्य नहीं की जा रही थी। ऐसी हालत में ७ अगस्त, १९१२ को भारत की ब्रिटिश सरकार ने चीनी सरकार को एक ममोरेण्डम (ज्ञापन) भेजा जिसमें एक ओर चीन और तिब्बत, तथा दूसरी ओर तिब्बत और भारत के बीच पूर्वकाल से चली आती हुई शान्ति की नीति की चर्चा की गयी। परिणामस्वरूप तिब्बत का प्रश्न हल करने के लिए तिब्बत, चीन और भारत के प्रतिनिधियों की कान्फ्रेंस शिमला में बुलाई गयी। चर्चा के दौरान में तिब्बत को बाहरी और भीतरी सीमा में विभक्त

किया गया। भारतीय सीमा की ओर पड़ने वाली बाहरी सीमा में ल्हासा और चामडो को, तथा चीनी सीमा की ओर पड़ने वाली भीतरी सीमा में बिटांग, लितांग तेचिएन्लु तथा पूर्वी तिब्बत के बहुत से हिस्से को सम्मिलित किया गया। कान्फ्रेंस में भारत सरकार का प्रतिनिधित्व मकमोहन कर रहे थे उन्होंने तिब्बत की बाहरी सीमा में अपनी अतिरिक्त प्रादेशिक रियायत कायम रखते हुए, तिब्बत के ऊपर चीनी सरकार का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। तिब्बत के प्रतिनिधि ने तिब्बत के स्वायत्त शासन पर ज़ोर देते हुए चीन का आधिपत्य मान लिया और चीन के प्रतिनिधि इवान चेन ने इस निर्णय को स्वीकार किया।

भारत और तिब्बत का सीमा सम्बन्धी प्रश्न

इस प्रकार देखा जाय तो भारत और तिब्बत के बीच सीमा सम्बन्धी मामला तय हो गया था लेकिन तिब्बत की बाहरी और भीतरी सीमा की रेखा को अमान्य करते हुए चीनी सरकार ने शिमला के समझौते पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। इस पर ब्रिटेन और तिब्बत ने घोषणा की कि जब तक चीनी सरकार इस संधि पर हस्ताक्षर न करे तब तक उसे संधि के विशेषाधिकार से वंचित रखा जाये। लेकिन फिर भी चीन ने न तो भारत-चीन सीमा सम्बन्धी कोई प्रश्न उठाया, और न उसने कान्फ्रेंस की मान्यता को ही चुनौती दी। लेकिन मैकमोहन रेखा कायम रही और पिछले पचास वर्षों से निर्विवाद रूप से वह कायम है।

७

दुनिया की छत तिब्बत



भारत और तिब्बत के सम्बन्ध

भारत और तिब्बत के सम्बन्ध प्राचीनकाल से चले आते हैं। तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश भारत से ही हुआ। स्वनामधन्य महापण्डित शान्तरक्षित और दीपकर श्रीज्ञान ने भारत से ही पहुँचकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। तिब्बती लिपि की वर्णमाला भारतीय देवनागरी वर्णमाला का ही रूपान्तर है। तिब्बत की चित्रकला और शिल्पकला पर भी भारतीय कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। तिब्बत की यात्रा कीजिए तो वहाँ के घरों की दीवारों और खम्भों पर स्वस्तिक के चिह्न

दिखाई देंगे। यहाँ के मठों और मंदिरों में बौद्ध आचार्यों के, भारत में लुप्त समझे जाने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के तिब्बती अनुवाद, तथा नागार्जुन, आर्यदेव असंग, वसुबंधु, धर्मकीर्ति, कमलशील आदि बौद्ध धर्म के दिग्गज पंडितों की जीवनियाँ सुरक्षित हैं। शरत्चन्द्र दास और पद्मभूषण महापंडित राहुल सांकृत्यायन यहाँ के बहुमूल्य हस्त-लिखित ग्रंथों की पाण्डुलिपियाँ खच्चरों पर लादकर लाये थे। राहुलजी की यह अनमोल निधि पटना के म्यूजियम में रखी हुई है। तिब्बतवासी आजकल भी बोधगया, सारनाथ वाराणसी, वैशाली, श्रावस्ती आदि बौद्ध तीर्थों की यात्रा करके अपने को धन्य मानते हैं। भारतवासी भी साढ़े पच्चीस हजार फुट ऊँची हिमालय की चोटी पर स्थित शिवजी के निवासस्थान कैलास धाम की यात्रा कर पुण्य का उपार्जन करते हैं। लेकिन इतना सब होने पर भी तिब्बत के सम्बन्ध में हमें जितनी जानकारी होनी चाहिए, उतनी नहीं है। दुनिया का यह सबसे ऊँचा प्रदेश शुरू से ही रहस्य के गर्भ में छिपा रहा है और यहाँ की राजधानी ल्हासा को 'निषिद्ध नगर' कहा जाता रहा है।

भौगोलिक परिस्थिति

तिब्बत हिमाच्छादित पर्वतों और दुर्गम प्रदेशों से घिरा भूभाग है जो लगभग ५ लाख वर्गमील में फैला हुआ है। यह पूर्व से पश्चिम तक १५०० मील, उत्तर से दक्षिण तक ४,००० मील तथा समुद्रतल से १६ ००० फुट तक की ऊँचाई पर बसा है। इसके उत्तर में सिक्यांग, दक्षिण में नेपाल, भूटान, सिक्किम

और भारतीय पर्वत-मालाएँ, पश्चिम में लद्दाख और पूर्व में चीन है। तिब्बत के पूर्वीय प्रदेश में अनेक घाटियाँ हैं जिनके बीच-बीच में ऊँची पर्वत-शृंखलाएँ हैं। कलकल करती हुई यहाँ अनेक नदियाँ बहती हैं। नीचे के हिस्से घने जंगलों से आच्छादित हैं जिनमें वर्षा होती रहती है, इसलिए लोग ऊपर के प्रदेशों में जाकर ६ हजार से १३ हजार फुट की ऊँचाई पर, निवास करते हैं। उत्तरी तिब्बत में चांगतांग का पठार है जिसमें सैकड़ों झीलें बहती हैं और इनके चारों ओर क्षार, सोडा और सुहागा पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इस प्रदेश की सबसे बड़ी झील कोकोनोर है जो करीब डेढ़ हजार वर्ग-मील में बहती है।

सिंधु, सतलज और सांगपो (ब्रह्मपुत्र) यहाँ की मुख्य नदियाँ हैं। तीनों का उद्‌गम मानसरोवर झील के पास के प्रदेश से हुआ है। सिंधु और सतलज कैलास पर्वत से निकल कर उत्तर-पश्चिम होती हुई दक्षिण की ओर बहती हैं और फिर पंजाब होकर हिन्द महासागर में मिल जाती हैं।

आबहवा

आबहवा यहाँ की रूखी है और जमीन बहुत उपजाऊ नहीं। मई-जून महीने में भी ल्हासा के आसपास के पर्वत अक्सर बर्फ से ढके रहते हैं इससे इस प्रदेश की सर्दी का अनुमान लगाया जा सकता है। हिमालय की दीवाल मार्ग में आ जाने से हिन्द महासागर से चली हुई मेघमाला स्वच्छन्दतापूर्वक यहाँ नहीं पहुँच पाती, इससे वर्षा अधिक नहीं होती, बर्फ ही

पड़ता रहता है। सर्दी की अधिकता के कारण वृक्ष आदि नहीं उगते। ऐसी हालत में अपनी आजीविका के लिए तिब्बतवासियों को कठिन परिश्रम करना पड़ता है जिससे वे स्वभाव से कष्ट-सहिष्णु, शांत, शिष्ट कलाप्रेमी और अतिथिप्रिय हो गये हैं।

तिब्बत आदिम मानव का उत्पत्ति-स्थान

तिब्बत के लोग अपने देश को भोट कहते हैं। उनके अनुसार मानव-जाति की उत्पत्ति सबसे पहले तिब्बत में हुई थी। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर वानरराज के रूप में उत्पन्न हुए और एक राक्षसी के साथ उन्होंने विवाह कर लिया। उनके छह सन्तान हुई। वानरराज ने अपनी सन्तानों को अनाज खिलाकर पुष्ट किया जिससे उनके शरीर के बाल झड़ गये और दुम छोटी होते-होते एक दिन गायब हो गयी।

घुमक्कड़ जातियाँ

सर्वप्रथम तिब्बतवासियों का परिचय हमें घुमन्तुओं के रूप में मिलता है जबकि वे चमरी गायों के बालों से बने तम्बुओं में रहा करते थे। ये लोग ग्वालों और गड़रियों के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते-फिरते थे। ऊन, चमरी गाय के बाल, नमक और मक्खन को वे बिक्री करते और इन चीजों के बदले जौ, गेहूँ चाय और कपड़ा खरीदते।

खेती-बारी और पशुपालन

तिब्बत में गेहूँ और जौ की खेती होती है, साल भर में

एक ही फसल कटती है। तिब्बत के लोग गेहूँ और जौ की रोटी नहीं बनाते, वे इन्हें भूनकर पीस लेते हैं और उसका सत्तू बनाकर खाते हैं, इसे चम्बा कहते हैं। पशुओं में भेड़ बकरी और चमरी गाय पालते हैं। इनका मांस खाते हैं और इनके बालों से ऊनी कपड़े तयार करते हैं। भेड़ की खाल का पोस्तीन बनाकर उसे पहनने के काम में लेते हैं। धनी लोग भेड़िये, लोमड़ी और नेवले की खाल के वस्त्र बनाते हैं। चमरी गाय के दूध से मक्खन और उसके बालों से तम्बू और रस्सी तयार की जाती है। चमरी गाय बोझा ढोन के काम में भी आती है। जिन दुर्गम पहाड़ों पर हवा पतली होन के कारण टट्टू और खच्चर चलने में असमर्थ होते हैं, वहाँ चमरी गाय छिपकली की भाँति अपने कदम गड़ा-गड़ाकर ऊपर चढ़ती है। घरेलू जानवरों में तिब्बत के लोग कुत्ते पालने के शौकीन होते हैं।

तिब्बती चाय

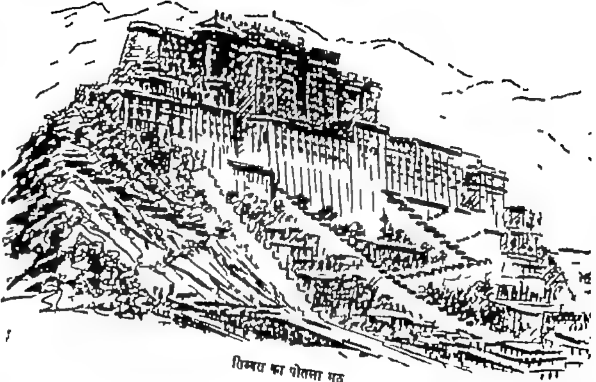
तिब्बत के लोग चाय बहुत पसन्द करते हैं। पहले चाय में सोडा और नमक मिलाकर उसे गरम पानी में उबालते हैं फिर उसे काठ के एक गिलास में उंडेल, उसमें मक्खन डालकर तब तक मथते हैं जब तक कि चाय का रंग दूध-जसा सफेद न हो जाये। फिर इसमें सत्तू मिलाकर उसे बड़े शौक से खाते हैं। तिब्बत क लाग अपने अतिथि को सूखा मांस चाय और कच्ची शराब (तिब्बती में छंग) देकर बड़े प्रसन्न होते हैं।

गुलामों का समाज

पहले तिब्बत-भर की जमीन पर वहाँ के राजा का अधिकार था, और यह जमीन पट्टे पर किसानों को जोतने के लिए दी जाती थी, इसके बदले किसान राजा को टैक्स देते थे। देखा जाय तो वहाँ के गुलामी समाज में जमीन-जायदाद और गुलामों के मालिक कुल ५ प्रतिशत सामन्त और अभिजात वर्ग के लोग ही, ९५ प्रतिशत तिब्बत की जनता पर शासन करते आये हैं। इनमें ६० प्रतिशत किसान और ५ प्रतिशत गुलाम हैं, जिनकी ७० प्रतिशत कमाई अपने मालिकों की तिजोरियों में जाती है और ये बिचारे सदा कर्ज के भार से दबे रहते हैं मानो किसी ने गले में पत्थर बाँध दिया हो। इन लोगों को किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं, और यदि कहीं जाने अनजाने मालिक की इच्छा के विरुद्ध कोई काम हो गया तो फिर खुदा ही मालिक है। किसी भी समय गुलाम के हाथ-पैर काट लिए जा सकते हैं और आँखें फोड़कर उसे अंधा बनाया जा सकता है। वास्तव में वहाँ की मेहनतकश जनता की गाढ़ी कमाई का उपभोग करने का अधिकार केवल १०० कुलीन परिवारों के हाथ में रहा है और वहाँ की अधिकांश जमीन-जायदाद कुल इने-गिने २० परिवारों के पास रही है।

मठ-मंदिर भी जमीन-जायदाद के मालिक

तिब्बत की आबादी लगभग १० लाख है, जिसमें दस प्रतिशत लामा हैं। यहाँ छोटे-बड़े सब मिलाकर लगभग ३ हजार मठ (तिब्बती में गोम्फा अथवा गुंबा) हैं जिनमें सकड़ों



तिब्बत का पोताला मठ

हजारों लामा निवास करते हैं। इनमें अधिकांश की उम्र आठ वर्ष या इससे अधिक है और कुछ तो चार ही वर्ष के हैं। ये लामा बौद्ध धर्म का पालन करने के साथ-साथ वनिज-व्यापार और ब्याज-बट्टे से धन कमाते हैं और कुछ देश के शासन-सूत्र का संचालन भी करते हैं। कुलीन परिवारों के मठाधिकारी लामा जमीन जायदाद और गुलामों के मालिक हैं और साधारण परिवार के लामाओं से वे जमीन घिसने और सफाई करने आदि का काम इसी तरह कराते हैं जैसे कि गुलामों से कराया जाता है। मठाधीशों का अनुशासन भंग करने पर इन्हें मठों की कचहरियों में उपस्थित किया जाता है, कोड़ों की सजा दी जाती है और गम्भीर अपराध होने पर जेल के सींकचों में बन्द कर दिया जाता है। खेती के लायक देश की जमीन का लगभग एक-तिहाई हिस्सा इन मठों के अधिकार में है। इसके सिवाय दान-दक्षिणा और उपहार आदि के द्वारा भी काफी आमदनी हो जाती है जिससे इन मठों के पास अपार धनराशि जुट जाती है। तिब्बत सरकार की ओर से लामाओं के भोजन, वस्त्र आदि का प्रबन्ध रहता है और मठों के भण्डार अनाज, चाय, मक्खन और कपड़ों से अटे रहते हैं।

तिब्बत के कुछ प्रसिद्ध मठ

पोतला मठ ल्हासा का सबसे प्रसिद्ध मठ है जहाँ तिब्बत के धर्मगुरु दलाई लामा शीत ऋतु में निवास करते हैं। दुनिया की यह सबसे बड़ी इमारत मानी जाती है, जिसमें वर्षों तक रहने के बाद भी यहाँ के अंतरंग रहस्यों का पता नहीं लगता।

यह पहाड़ी पर बना हुआ एक आलीशान भवन है जो अपने आप में एक नगर जैसा लगता है। पोतला प्रासाद के मध्य भाग में १३ मंजिलें हैं जहाँ बड़े-बड़े भवन प्रार्थनागृह और ध्यान करने के लिए तहखाने, तथा खाद्य-पदार्थों के कोठार और सोने चाँदी और हीरे-जवाहरात के खजाने मौजूद हैं। कितने ही पुराने रिकार्ड और ताड़पत्र पर लिखे हुए हजारों दुर्लभ बौद्ध ग्रंथ यहाँ सुरक्षित हैं। अनेक लामाओं के चाँदी-सोने के स्तूप बने हुए हैं। इन स्तूपों में एक-से-एक कीमती मणि-मुक्ता आदि बहुमूल्य सामान गड़ा हुआ है। इसे भक्तों ने अपने धर्मगुरुओं को भेंट चढ़ाया था। दलाई लामा यहाँ से राष्ट्र के शासन-सूत्र का संचालन करते हैं इसलिए राष्ट्रीय विधानसभा और लोकसभा की बैठकें भी यहाँ होती हैं।

नौरबुलिंग यहाँ का दूसरा प्रसिद्ध मठ है जहाँ दलाई लामा ग्रीष्म ऋतु में रहते हैं। इसके अतिरिक्त, ड्रेपुंग (=धान्य-राशि), सेर और गांडेन नाम के बड़े-बड़े मठ हैं जिनमें हजारों लामा निवास करते हैं। इनके भोजन-वस्त्र और अध्ययन-अध्यापन का यहाँ समुचित प्रबन्ध है।

तिब्बत में सम्राटों की परम्परा

१२७ ई० पू० में तिब्बत में ञ्या-त्रिखेन-पो नाम के प्रथम सम्राट् ने राज्य किया। उसके बाद ४० सम्राट् और हुए। पहले २७ राजाओं के शासन-काल में बोन धर्म का प्रचार था यह धर्म जादू-टोने और भूत प्रेत के विश्वास पर आधारित आदिम-कालीन जातियों का धर्म था। तत्पश्चात्

२८वें राजा के शासनकाल में तिब्बत में पहली बार बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ।

बौद्ध धर्म का प्रभावक स्रोंग बत्सन्-गम्-पो

ईसवी सन् की ७वीं शताब्दी में तिब्बत में स्रोंग बत्सन्-गम्-पो (६२०-६५० ई०) नाम का एक प्रसिद्ध सम्राट् हो गया है। उसके शासन-काल में भारत और चीन के साथ तिब्बत के सम्बन्धों में वृद्धि हुई जिससे तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ा। उसने थुन मि साम भोट नाम के अपने मन्त्री को भारत में बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के लिए भेजा। उस समय तक तिब्बती—जो तिब्बत-बर्मी परिवार की एक भाषा है—की कोई लिपि नहीं थी। यह मन्त्री देवनागरी लिपि की वर्णमाला को अपने साथ लेकर तिब्बत लौटा और इस समय से तिब्बत के बौद्ध ग्रंथ ४ स्वर और ३० व्यञ्जनों वाली लिपि में लिखे जाने लगे। इसके सिवाय इस समय तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए अनेक मठ-मंदिरों की स्थापना हुई। ल्हासा के सुप्रसिद्ध पोतला मठ की नींव भी इसी काल में रखी गयी।

चीन और नेपाल के साथ सम्बन्ध

सम्राट स्रोंग बत्सन्-गम्-पो एक दूरदर्शी उत्साही सम्राट् था। ६४१ ई० में उसने थांग वंश की राजकुमारी वन चेन से विवाह किया जिससे तिब्बत और चीन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गये। पुरातन बुद्ध की चंदन की एक मनोज्ञ मूर्ति

मध्य एशिया होते हुए भारत से चीन पहुँची थी, चीन की राजकुमारी को यह मूर्ति दहेज के रूप में मिली। बड़ी धूम-धाम से ल्हासा में बुद्ध की मूर्ति का प्रवेश कराया गया। तत्पश्चात् एक जलाशय पटवाकर उसके ऊपर एक सुन्दर मंदिर का निर्माण कराया और फिर बड़े ठाठ से मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई। १३०० वर्ष बीत जाने पर भी जोखग (=स्वामिगृह) नाम का यह प्रसिद्ध बौद्ध मंदिर अपनी शान के साथ ज्यों-का-त्यों अवस्थित है। इसके सिवाय, और भी बहुत-सी वस्तुएँ चीन की राजकुमारी अपने साथ लायी थी, जिनमें रेशम के कीड़े, पनचक्की दस्तकारी का सामान कागज शराब, और भोजन करने की तीलियाँ आदि मुख्य हैं।

सम्राट स्रोंग चन्-गम्-पो ने चीन की भाँति नेपाल पर भी विजय प्राप्त कर राजा अंशुवर्मा की राजकुमारी भृकुटी-देवी से विवाह किया। यह राजकुमारी भी अपने साथ भग-वान बुद्ध की मूर्ति लेकर आयी, जिसकी धूमधाम से प्रतिष्ठा की गयी। इससे चीन तथा नेपाल के साथ तिब्बत के मित्रता-पूर्ण सम्बन्ध दृढ़ हो गये।

भारतीय पंडितों को आमंत्रण

तिब्बत के ३७वें सम्राट ठि स्रोंग-ल्दे-चन (७१९-८० ई०) के शासन-काल में तिब्बत में बौद्ध धम का प्रचार करने के लिए भारत के अनेक पंडितों को आमन्त्रित किया गया। उड़ीसा के राजवंश में उत्पन्न प्रात स्मरणीय आचार्य पद्मसंभव मंत्र तंत्र के बहुत बड़े विद्वान् थे। कहते हैं उन्होंने अपने मन्त्र-बल से

तिब्बत के देवी-देवताओं को परास्त कर उन्हें बौद्ध धर्म के प्रसार में सहायक बनाया जिससे उनकी खूब ही प्रतिष्ठा बढ़ी। पद्मसंभव को यहां गुरु रेम्पोछे नाम से सम्बोधित किया जाता है, और उनकी मूर्ति घर घर में दिखाई देती है।

आचार्य शान्तरक्षित

सिंहल में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए जो स्थान सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र का है, वही स्थान तिब्बत में नालंदा के परम पूज्य आचार्य शांतरक्षित का है। सम्राट् ठि-स्रोंग-ल्दे-बचन ने भारत में अपने कर्मचारी भेजकर अत्यन्त विनयपूर्वक शांतरक्षित को तिब्बत आने के लिए आमंत्रित किया। और तिब्बत के सम्राट् की प्रार्थना स्वीकार कर ७५ वर्ष की अवस्था में ७२४ ई० में, हिमालय के दुर्गम प्रदेशों को लांघकर वयोवृद्ध शांतरक्षित ने जब तिब्बत में प्रवेश किया तो तिब्बतवासियों के हर्ष का पारावार न रहा। राजा की ओर से बड़े गाजे-बाजे के साथ उनका स्वागत किया गया। शान्तरक्षित धर्मोपदेश में अपना समय बिताते हुए तिब्बत में रहने लगे। कुछ समय बाद सम्राट् की सहायता से ल्हासा के दक्षिण में, ब्रह्मपुत्र के तट पर उन्होंने सम्-ये नाम का बौद्ध विहार बनवाना आरम्भ किया। ओदन्तपुरी के सुन्दर विहार के नमूने पर ही इसका निर्माण आरम्भ हुआ था। १२ वर्ष के बाद जब यह ऐतिहासिक विहार बनकर तैयार हुआ तो तिब्बतवासी खुशी से फूले न समाये। ७४२ ई० में शान्तरक्षित ने पहली बार स्थानीय लोगों को भिक्षुधर्म में दीक्षित

किया। आचार्य शान्तरक्षित पूरे १०० वर्ष जीवित रहे। इस दीर्घकाल मे उन्होंने अनेक शिष्य बनाये तथा कितने ही बौद्ध धर्म सम्बन्धी संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। सम-ये विहार के चत्य में बौद्ध धम के महान् प्रतिष्ठाता आचार्य शांतरक्षित के पवित्र अवशेष आज भी मौजूद हैं जिनके दर्शन कर तिब्बतवासी अपना अहोभाग्य मानते हैं।

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान

दीपंकर श्रीज्ञान तिब्बत के दूसरे प्रतिष्ठित बौद्ध पंडित माने जाते हैं। तिब्बत के लोग इन्हें अतिशा कहकर सम्बोधित करते हैं। शांतरक्षित और दीपंकर दोनों ही बिहार के रहने वाले थे। दीपंकर विक्रमशिला के महाविहार के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। तिब्बत के राजा येशे-ओ ने जब देखा कि तिब्बत में बौद्ध धर्म का ह्रास होता जा रहा है तो उन्होंने अपने कुछ विश्वासपात्र कर्मचारियों को बहुत-सा सोना देकर विक्रमशिला भेजा और आचाय दीपंकर से तिब्बत आने की प्रार्थना की। पहले तो दीपंकर ने इतनी दूर जाने की स्वीकृति नहीं दी, लेकिन राजा का अत्यन्त आग्रह देख संघ के स्थविर से कह सुनकर उन्होंने अनुमति प्राप्त की। १०४२ ई० में जब दीपंकर तिब्बत पहुँचे तो वे ६१ पार कर चुके थे। तिब्बतवासी बौद्ध धर्म के प्रकाण्ड आचार्य के दर्शनों की बड़ी उत्सुकता से बाट जोह रहे थे। इसलिए आचार्य ने जब तिब्बत की भूमि पर पाँव रखा तो राजा उनकी अगवानी करने आया, और सम

भज के साथ उन्हें नगर में लिवा ले गया। तिब्बत पहुँचकर दीपकर ने बोधिपथप्रदीप आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की और कितनों ही का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। ब्रोम्-तोन् दीपकर के परमप्रिय शिष्य थे, उन्होंने बौद्ध धर्म में तांत्रिक परम्परा को जन्म दिया। चोंग-ख-पा इसी परम्परा के अनुयायी थे, जिन्होंने १४५७ ई० में पीली टोपी (ग-लु-पा) नाम के लामा सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित किया। आचार्य दीपकर १२ वर्ष तक तिब्बत में धर्म का प्रचार करते रहे। तत्पश्चात् ७३ वर्ष की अवस्था में प्रयंग के तारा मंदिर में उन्होंने अपने नश्वर शरीर को छोड़ा। उनका भिक्षापात्र, कमण्डल और दण्ड आज भी इस मंदिर की शोभा बढ़ा रहा है और ये सब वस्तुएं भारत और तिब्बत के मित्रता और सद्भावनापूर्ण सम्बन्धों की साक्षी दे रही हैं।

तिब्बत और चीन का संघर्ष

तिब्बत के ३६वें सम्राट के शासन-काल में पहली बार तिब्बत और चीन में संघर्ष का सूत्रपात हुआ जिसमें चीन के कितने ही प्रांतों पर तिब्बत का अधिकार हो गया। तत्पश्चात् ४०वें सम्राट् के शासन-काल (८९६ ई०) में फिर से संघर्ष हुआ और दोनों देशों की सीमा निर्धारित करने के लिए पत्थर का एक खंभ गाड़ दिया गया।

दलाई लामाओं का शासन

सम्राटों के शासन के बाद १३वीं शताब्दी से तिब्बत में

लामाओं का शासन आरम्भ होता है। इस समय छोग्यास-फाग-पा नाम का लामा चीन के सम्राट कुबलयखाँ का धार्मिक उपदेष्टा बनकर चीन गया। १२५० ई० में कुबलयखाँ ने तिब्बत को चीन में मिलाकर पेकिंग को अपनी राजधानी बनाया। तीन वर्ष बाद यह लामा लौटकर आया और तिब्बत का प्रथम धर्मगुरु राजा कहलाया।

इस काल में लामाधर्म की बहुत उन्नति हुई जिसके फल-स्वरूप अनेक छोटे-बड़े सम्प्रदायों का जन्म हुआ। इन सम्प्रदायों में गे-लू-पा सम्प्रदाय सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। दलाई लामा (दलाई मंगोल भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है समुद्र दलाई लामा अर्थात् प्रज्ञा का समुद्र) और टषी लामा (जिसे पनछेन रिम्पो भी कहा जाता है) इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। १५वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी तक इस सम्प्रदाय में पाँच दलाई लामा हो गये हैं। सो-नाम ग्यान-त्सोपो तीसरा दलाई लामा था, जिसने अपने सम्प्रदाय में धर्म निरपेक्ष राज कीय सत्ता की नींव डाली, और इस समय से दलाई लामाओं की शृंखला आरम्भ हो गयी। १५७८ और १५८७ ई० में उसने मंगोलिया की यात्रा की और वहाँ के सम्राट् ने उसे वज्रधर की पदवी से विभूषित किया। तत्पश्चात् ५वें दलाई लामा (जन्म १६१७ ई०) ने १६४१ में मंगोलिया के राज-कुमार की सहायता से तिब्बत के राजा त्सान-पा को गद्दी से उतार दिया और स्वयं राज्य करने लगा। इसी समय से टषी लामा के पुन जन्म धारण करने की परम्परा प्रचलित हुई।

तिब्बत का छठा दलाई लामा (जन्म १६८२ ई०) तोयांग

का निवासी था। यह स्थान आजकल भारत में नेफा (उपूसी) के अन्तर्गत कामेंग प्रदेश में आता है। लेकिन चीन के सम्राट ने उसे पदच्युत करके उसके स्थान पर सातवें दलाई लामा (जन्म १७०८ ई०) को बैठा दिया। यही एक ऐसा दलाई लामा हुआ जो विरक्त जीवन व्यतीत करने के लिए पहाड़ों और जंगलों में निकल जाया करता था। इसीलिए इसके एक चित्र में इसके हाथ में शासन का चिह्न वज्र न देकर, पुस्तक दी गई है। इस समय से चीनी मन्त्री ल्हासा की कोर्ट में रहने लगा।

पाँचवें दलाई लामा की भाँति तेरहवें दलाई लामा भी स्वतन्त्र विचारों के थे इसलिए तिब्बत में उनकी बहुत प्रतिष्ठा है। उन्होंने तिब्बत के स्वातन्त्र्य की घोषणा की, और उनके समय में तिब्बत ने काफी उन्नति की। सबसे पहले तिब्बत की सेना का पुनः संगठन किया गया विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेशों में भेजा गया, जल विद्युत् की मशीनें लगायी गयीं उद्योग धन्धों की स्थापना हुई डाक और तार का प्रचार हुआ, सोने चाँदी के नये सिक्के और कागज के नोट चल पड़े और सबसे बड़ी बात यह कि प्राचीन धार्मिक शिक्षा-प्रणाली को उन्होंने बदल दिया। दलाई लामा के पद पर अभिषिक्त होने के बाद उन्होंने धर्म और राज्य की समस्याओं को हल करने के लिए कठिन परिश्रम किया, और भिक्षुओं के कष्ट दूर करने की योजनाएँ बनायीं।

दलाई लामा और टशी लामाओं की परम्परा

तिब्बत के लोग दलाई लामा को बोधिसत्व अवलोकितेश्वर (तिब्बती में छेनरेसि) का अवतार मानते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि दलाई लामा को निर्वाण प्राप्त करने का अधिकार मिल चुका है लेकिन फिर भी वे जनहित के लिए जन्म धारण करते हैं और उनका यह प्रयत्न तब तक जारी रहेगा जब तक कि संसार के समस्त प्राणियों को निर्वाण न मिल जाये। तिब्बत के दूसरे सुप्रसिद्ध लामा हैं टशी लामा (पमछेन रिम्पो), इन्हें बोधिसत्व अमिताभ का अवतार माना जाता है। यद्यपि अमिताभ अवलोकितेश्वर के धर्मगुरु माने गये हैं, फिर भी तिब्बत में टशी लामा की अपेक्षा दलाई लामा का स्थान ही ऊँचा समझा जाता है। आजकल के टशी लामा १०वें टशी लामा हैं। उनकी अवस्था २२ वर्ष की है और आजकल वे तिब्बत में दलाई लामा के स्थानापन्न होकर कार्य कर रहे हैं।

१४ वें दलाई लामा की खोज

१९३३ में जब तेरहवें दलाई लामा थुप-तेन ग्यात्सो स्वर्ग सिधार गये तो चौदहवें दलाई लामा की ढूंढ मची। ल्हासा के नोरबुलिंग नाम के ग्रीष्म प्रासाद में दलाई लामा का स्वर्गवास होने के बाद उनके शव को दक्षिण की ओर मुँह करके स्थापित किया गया, लेकिन कहा जाता है कि किसी दविक चमत्कार से यह मुँह दक्षिण से पूर्व की ओर घूम गया।

इसका मतलब था कि भावी दलाई लामा की खोज पूर्व दिशा में होनी चाहिए।

तिब्बतवासियों का विश्वास है कि मृत्यु के बाद दलाई लामा की आत्मा किसी ऐसे शिशु में जन्म धारण करती है जो उसकी मृत्यु के दो वर्ष बाद पैदा होने वाला हो। धार्मिक परम्परा के अनुसार मृत्यु के पश्चात् दलाई लामा ४९ दिन तक दक्षिण तिब्बत की चो-कोर-ग्ये नाम की झील में आनन्द-पूर्वक समय यापन करते हैं उसके बाद वे जन्म लेते हैं। लेकिन ऐसे परम भाग्यशाली शिशु का पता कैसे लगाया जाये? सबसे पहले, राजा के कर्मचारी ल्हासा से ९० मील दक्षिण-पूर्व में अवस्थित ल्हा-मोइ-लात्सो नाम की पवित्र झील पर पहुँचते हैं और यहाँ झील के निमल जल में प्रतिबिम्बित दिव्य दृष्टि का संकेत पा दलाई लामा की तलाश में निकल पड़ते हैं।

उक्त झील का दिव्य संकेत पाकर, १९३५ ई० में राज-कर्मचारी भावी दलाई लामा की तलाश करते-करते तिब्बत के उत्तर-पूर्व में अवस्थित तक्तसेर नाम के गाँव में पहुँचे। यहाँ दिव्य संकेतों के सहारे-सहारे वे एक किसान के छोटे से घर के सामने आये। पता लगा कि हाल ही में उस घर में किसी शिशु ने जन्म लिया है। राजा के कर्मचारियों ने घर के अंदर प्रवेश किया, नवजात शिशु के बड़े-बड़े कान, उठे हुए कंधे, घुंघराले भवें और उसकी हथेली पर शंख का चिह्न देखकर उन्हें निश्चय हो गया कि यही दलाई लामा का अवतार होना चाहिये। उन्होंने भूतपूर्व दलाई लामा द्वारा उपयोग में

सी जाने वाली माला, घण्टी, छड़ी आदि वस्तुओं को अन्य अनेक वस्तुओं के साथ मिलाकर बालक के सामने रखा, और यह देखकर सबको आश्चर्य हुआ कि बालक ने उनमें से दलाई लामा की ही चीजों को चुना। इस पर राजा के कर्मचारी अत्यन्त प्रसन्न हुए और चौदहवें दलाई लामा के पाये जाने की मुनादी करा दी गयी।

दलाई लामा का अभिषेक

दलाई लामा जब चार वर्ष के हो गये तो १९३९ में अपने माँ-बाप और १६ भाई-बहिनों को छोड़कर वे बड़ी धूमधाम से ल्हासा लाये गये और पोतला महल में विधि-विधानपूर्वक दलाई लामा के पद पर उनका अभिषेक हो गया। इस समय उन्हें सुवर्ण की एक बुद्ध मूर्ति और बौद्ध त्रिपिटक उपहार में दिये गये, और बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए उनके दीर्घ-जीवी होने की कामना की गयी। धीरे-धीरे दलाई लामा बड़े हुए। ल्हासा के मठों में रहकर उन्होंने व्याकरण तर्क, धर्म-शास्त्र दर्शन, काव्य, आयुर्वेद ज्योतिष, सङ्गीत, नाट्य आदि की शिक्षा प्राप्त की और इसके पश्चात् पोतला में रहते हुए वे राजकाज की देखभाल करने लगे। इस समय दलाई लामा की उम्र कुल १४ वर्ष की रही होगी।

तिब्बत में चीनी सेनाओं का प्रवेश

१ अक्टूबर, १९४९ को चीन में कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना होने के तीन महीने बाद, चीनी सरकार के राष्ट्रपति

मामोत्से-तुङ्ग ने तिब्बत को 'साम्राज्यवादी आक्रमण' से मुक्त करने की घोषणा कर दी। अगस्त, १९५० में चीनी सेनाओं ने तिब्बत में प्रवेश किया, और चीनी सरकार ने तिब्बत के प्रश्न को शान्तिपूर्वक मित्रतापूर्ण तरीके से सुलझाने तथा चीन भारत के सीमाप्रान्त को स्थिर करने की इच्छा व्यक्त की। भारत सरकार ने चीनी सरकार की इस इच्छा का स्वागत करते हुए कहा कि भारत सरकार तिब्बत के ऊपर चीन के आधिपत्य को अस्वीकार नहीं करती यद्यपि इसका वास्तविक निर्णय तो तिब्बत की जनता द्वारा ही किया जाना चाहिए, फिर भी उसे आशा है कि यह मामला शान्तिपूर्वक सुलझ जायेगा, तथा जिस स्वायत्त शासन का तिब्बत पिछले ४० वर्षों से उपभोग करता चला आ रहा है, वह शासन कायम रहेगा। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि परम्परा से चली आयी हुई भारत और तिब्बत के बीच की सीमा रेखा का उल्लंघन न होना चाहिए।

७ अक्टूबर, १९५० को चीनी सेनाएँ तिब्बत में दाखिल हो गयीं। भारत सरकार ने चीन की इस सैनिक कार्रवाई के सम्बन्ध में चीनी सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि इससे एक तो संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन के प्रवेश का प्रश्न खटाई में पड़ जायेगा, दूसरे इस कारवाई से भारत के सीमा प्रान्त पर अशान्ति और उपद्रव बढ़ने की संभावना है। लेकिन पेकिंग सरकार को भारत की यह सलाह पसन्द न आयी। उसने पलटकर उत्तर दिया कि भारत विदेशी प्रभाव में आकर ऐसा सोचने लगा है और इससे जाहिर है कि वह तिब्बत में

चीन का विरोध करना चाहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत सरकार पर यह दोषारोपण करना बिल्कुल भी न्याय-सङ्गत नहीं था। इस सम्बन्ध में भारत के प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने ७ दिसम्बर १९५० को लोकसभा में भाषण करते हुए वक्तव्य दिया कि इस मामले में तिब्बत की जनता की राय ही सर्वोपरि समझी जानी चाहिए, केवल कानूनी या वधानिक दलील कार्यकारी नहीं हो सकती, यद्यपि यह बात दूसरी है कि तिब्बत की जनता में अपने अधिकारों को मनवा लेने की हिम्मत है या नहीं। चीन और तिब्बत के पुरान सम्बन्धों को देखते हुए, मौजूदा परिस्थिति में, इस समस्या का और कोई उचित हल हो भी क्या सकता था? इसके अलावा भारत चीन और तिब्बत के मामले में इसलिये भी कुछ करने में असमर्थ था कि उसने अपनी सारी शक्ति और साधन पचवर्षीय योजनाओं को पूरा करने में लगा रखे थे। अस्तु, घटनाएँ बड़ी शीघ्रता से दौड़ रही थीं। इस बीच २३ मई, १९५१ को तिब्बत के नेताओं को पेकिंग आमंत्रित किया गया और पेकिंग सरकार के १७ अधिकरण वाले सन्धि-पत्र पर मुहर लगा, उन्होंने सन्धि को स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् सेनापति चांग चिन-वू के नेतृत्व में चीनी सेनाओं का तिब्बत की राजधानी ल्हासा पर अधिकार हो गया। इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त हुआ।

भारत और चीन का समझौता

२९ अप्रल, १९५४ को भारत और चीन के बीच व्यापा-

मामोत्से-तुङ्ग ने तिब्बत [illegible] सम्बन्धी समझौता हुआ। चीनी
करने की घोषणा कर दी [illegible] के फलस्वरूप, ब्रिटिश भारत
तिब्बत में प्रवेश किया, [illegible] प्रादेशिक अधिकार तिब्बत में
को शान्तिपूर्वक मित्रतापू [illegible] भारत ने परित्याग कर दिया,
भारत के सीमाप्रान्त को [illegible] मान लिया। इसके सिवा
भारत सरकार ने चीनी [illegible] भारतीय सेना-रक्षक दल हटा
करते हुए कहा कि भारत [illegible] और टेलीफोन की सर्विस और
आधिपत्य को अस्वीकार [illegible] कीमत पर चीनी सरकार को
निर्णय तो तिब्बत की जन [illegible] में एक-दूसरे की अखं
फिर भी उसे आशा है कि [illegible] की रक्षा के सिद्धान्त का पालन
जायेगा, तथा जिस स्वायत्त [illegible] कांग्रेस में पंचशील क
से उपभोग करता चला आ [illegible] समझौते पर अन्तिम मुहर लग

ल्हासा का विद्रोह

लगभग ३८ वर्ष तक (१९१२ से लगाकर १९५० ई० तक) स्वायत्त शासन का उपभोग करने के पश्चात्, तिब्बत पर चीनी सेनाओं का जब अधिकार हो गया तो स्वाभाविक था कि तिब्बत की जनता को यह पराधीनता अच्छी न लगी हो। ऐसी दशा में सदियों से सामन्तवाद का गढ़ बने हुए तिब्बत में चीनी सरकार की चीनी साम्यवाद पर आधारित आर्थिक, राजनीतिक और समाजसुधार सम्बन्धी नयी नीति का विरोध जरूर हुआ होगा। अस्तु, मार्च १९५९ में ल्हासा में चीनी सेनाओं के खिलाफ एक विद्रोह खड़ा हो गया जिससे १७ मार्च को अपने प्रासाद से, वेश बदलकर दलाई लामा को भागना पड़ा।

भारत से तिब्बत आने-जाने के मार्ग

हवाई जहाज के रास्ते ल्हासा से भारत का सीमाप्रान्त केवल १५० मील है, लेकिन पहाड़ियों को लांघकर आने से यह ३०० मील पड़ता है। तिब्बत के लोग प्राचीनकाल से ही विदेशों के साथ व्यापार करते रहे हैं। वे लोग ऊन नमक, कस्तूरी, रेशम और समूरी खाल को अपने खच्चरों पर लादकर पहाड़ी रास्तों से विदेशों में पहुँचाते रहे हैं और असम से कपड़ा, लोहा और माल आदि खरीदते रहे हैं। इसीलिए तिब्बत के दक्षिण भाग से भारत पूर्व भाग से चीन, और उत्तरी भाग से मंगोलिया जाने के व्यापारी-मार्ग अब भी बने

हुए हैं। श्रीनगर से लद्दाख की राजधानी लेह होते हुए, दक्षिण तिब्बत से शिगत्से और ल्हासा पहुँचने का मार्ग भी मौजूद है। बौद्ध भिक्षु इन्हीं बीहड़ मार्गों से होकर पैदल आते-जाते थे।

दलाई लामा भारत की ओर

दलाई लामा ने भी भारत आने का यही मार्ग पकड़ा। लेकिन ३०० मील का दुर्गम मार्ग पार करना कोई आसान काम न था। भयानक पर्वत-शृंखलाओं नदियों घाटियों और बर्फ से आच्छादित चोटों को पार कर आगे बढ़ना था। इसके लिए कभी उन्हें पैदल चलना पड़ता कभी घोड़े और खच्चर की सवारी करनी पड़ती, और कभी चमरी गाय की खाल की नाव में सवार होकर नदी-नाले पार करने पड़ते। रोज वे २० मील का रास्ता तय करते लेकिन चलते चलते डर लगा रहता कि कहीं चीनी सिपाहियों ने देख लिया तो!

दलाई लामा ने थांग-ला दर्रे से होते हुए नेफा के अन्तर्गत कामेंग प्रदेश के तोवांग सी-ला और बोमदिला होकर असम में प्रवेश किया। अपनी यात्रा में कितने ही स्थानों पर उन्हें १७ हजार फुट की ऊँचाई तक चढ़ना पड़ा। इन दुर्गम स्थानों में बर्फ ही बर्फ गिरता रहता है, वर्षा होती रहती है, या फिर अंधड़ चला करते हैं। टट्टू ही एकमात्र सवारी है जिस पर बैठकर मुसाफिरी की जा सकती है। और कहीं तो टट्टू की सहायता के बिना ही, घुटनों तक के बूट पहन, पैदल ही दलदल में से होकर गुजरना पड़ता है। मिट्टी इतनी चिकनी होती है कि रपटने की आशंका बनी रहती है। पानी की झीलें

जमकर बर्फ बन जाती हैं, और घास-फूंस का कहीं नाम तक दिखाई नहीं देता। हड्डियों को भेदने वाली सर्दी के मारे हाथ और पाँव की उँगलियाँ सुन्न हो जाती हैं, मूँछें बर्फ से जम जाती हैं, और यदि किसी रंगीन कपड़े या अपने लंबे बालों से आँखों को न ढंका जाये तो बर्फ पर गिरने वाली सूरज की रोशनी की चकाचौंध से आदमी अंधा ही हो जाये।

इस दुगम यात्रा में अकेले दलाई लामा ही नहीं थे, उनके साथ उनके दल के और भी लोग थे। फिर, पोतला का बहुमूल्य खजाना लिए सोने-चाँदी से लदे हुए खच्चर भी यात्रा कर रहे थे।

आखिर इतनी लम्बी मुसाफिरी के बाद ३१ मार्च, १९५९ को जब दलाई लामा ने भारत के सीमाप्रान्त में कदम रखा तो उनके दम में दम आया। दलाई लामा के कुछ आदमी पहले से ही हिन्दुस्तान आ गये थे। दलाई लामा राजनीतिक शरण चाहते थे, और उन्हें वह मिल गयी। आजकल वे अपने अनुयायियों के साथ मसूरी-धाम पर निवास करते हैं।

८

चीनी सेनाओं का आक्रमण

भारत सरकार की न्यायपूर्ण उदार नीति

सन् १९४७ में भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की, तभी से भारतीय जनता की इच्छा रही है कि चीन के साथ अपने मित्रतापूर्ण प्राचीन सम्बन्धों को पुनः स्थापित करे। अक्तूबर, १९४९ को चीन में कम्युनिस्ट सरकार बनी और दो महीने के अन्दर ही भारत ने उसे मान्यता प्रदान की। भारत सरकार इस बात के लिए भी सतत प्रयत्नशील रही कि अन्य राष्ट्रों की भांति एशिया में शान्ति-रक्षा के लिए, चीन जैसे बड़े देश को संयुक्त राष्ट्रसंघ में उचित स्थान प्राप्त हो। तिब्बत के प्रश्न को लेकर भी पड़ोसी राष्ट्रों में मित्रतापूर्ण भावना बढ़ाने के लिए, और शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने न्यायपूर्ण, उदार नीति से काम लिया। अप्रैल, १९५४ में भारत सरकार ने व्यापारिक और पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने के हेतु तिब्बत के साथ जो इकरारनामा किया, उसमें तिब्बत में ब्रिटिश भारत के प्रादेशिक-अधिकारों का परित्याग कर दिया गया, और तिब्बत को चीन का प्रदेश मान लिया। इसके साथ ही, यातुंग और ग्यान्त्से में जो भारतीय सेना-रक्षकदल मौजूद था, उसे हटा लिया, तथा डाकखाना, तारघर, टेलीफोन सर्विस और विश्रामालयों को

मामूली-सी कीमतों पर चीनी सरकार के हवाले कर दिया गया। पंचशील का सिद्धान्त इसी संधि की प्रस्तावना के रूप में स्वीकार किया गया था। यह पहले कहा जा चुका है।

चीनी सरकार के नक्शे

भारत द्वारा मान्य भारत चीन की सीमा-पंक्ति से चीनी सरकार भली प्रकार अवगत थी, फिर भी उसने इस सम्बन्ध में कोई विवाद उपस्थित नहीं किया। भारत के प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने २० नवम्बर, १९५० को लोकसभा में घोषित किया कि मकमोहन रेखा हमारी सीमारेखा है और हम किसी को इस रेखा का अतिक्रमण न करने देंगे। सन् १९५१-१९५२ में भी तिब्बत के सम्बन्ध में भारत और चीनी सरकार की बातचीत हुई, लेकिन मैकमोहन रेखा के सम्बन्ध में कोई प्रश्न चीन की ओर से नहीं उठाया गया। इसके पश्चात् चीनी सरकार के नक्शों में करीब ३६ हजार वर्गमील नेफा का और करीब १२ हजार वर्गमील लद्दाख के उत्तर-पूर्व का भाग चीन की सीमा में दिखाया गया तो भारत सरकार ने चीन के अधिकारियों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। उत्तर में कहा गया कि ये नक्शे कुमिंगतांग सरकार के पुराने नक्शों के आधार से तयार किये गये हैं, अतएव इन नक्शों पर आधारित अधिकारों को मानने की आवश्यकता नहीं। अक्तूबर, १९५४ में चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई ने इन नक्शों में संशोधन करने का आश्वासन दिया।

भारतीय सीमांत पर चीन की मांग

लेकिन इस समय से चीनी सरकार ने सीमान्त के भारतीय प्रदेशों पर आँख गड़ाना शुरू कर दिया। सबसे पहले ७ जुलाई, १९५४ को चीन ने उत्तरप्रदेश के बड़ाहोती क्षेत्र में पहरा देने वाली भारतीय सेनाओं की मौजूदगी का विरोध किया, और १९५५ में चीनी टुकड़ी ने यहाँ अपना कैम्प बना लिया। १९५६ में पंजाब के स्पिति क्षेत्र में चीनियों की एक टुकड़ी माप-जोख करने आई, और एक सशस्त्र टुकड़ी ने शिपकी दर्रे को पार करके नीलांग-जधांग में प्रवेश किया। १९५७ में उन्होंने तिब्बत और सिक्यांग को जोड़ने वाली १००० मील लम्बी सड़क बनाकर तैयार कर ली, जो सड़क उत्तर-पूर्व लद्दाख के अक्साई चीन पठार से होकर गुजरती है। चीनी सरकार का कहना है कि १७ हजार फुट की ऊँचाई वाले लद्दाख के इस पूर्वी प्रदेश में तिब्बत और उइघर के निवासी गड़रिये ही अपनी भेड़ चराने आते रहे हैं भारत ने कभी इसका उपयोग नहीं किया। लेकिन दस्तावेजों से यह सिद्ध होता है कि लद्दाख के निवासी अक्साई चीन और समीपवर्ती दूसरी जगहों में व्यापार करने, शिकार खेलने, जानवर चराने और नमक इकट्ठा करने आया करते थे।

भारतीय और चीनी सीमा संबंधी विवाद का सूत्रपात

१९५६ में चाऊ-एन-लाई भारत आये तो उन्होंने पंडित नेहरू से कहा कि चीन और बर्मा के बीच की मैकमोहन रेखा

को उन्होंने स्वीकार कर लिया है, और इसी तरह भारत चीन की सीमा को भी वे मान लेंगे। लेकिन इस आश्वासन के बावजूद, जैसा कि कहा जा चुका है, १९५७ में चीन ने अक्साई चीन की सड़क बनाकर तैयार कर ली। उसके बाद १९५८ में चीनी सैनिकों ने लद्दाख के खुरनाक किले को अधिकार में ले लिया, अक्साई चीन में पहरा देने वाले भारतीय सैनिक-दल को गिरफ्तार कर लिया, तथा उत्तरप्रदेश के संगचामाल और लप थाल प्रदेश में वे लोग घुस आये। इन्हीं दिनों चीन की एक सरकारी पत्रिका में चीन का नक्शा प्रकाशित हुआ जिसमें तिराप को छोड़कर नेफा के शेष चार भाग, उत्तरप्रदेश के कुछ हिस्से, तथा लद्दाख के काफी बड़े क्षेत्र को चीनी सीमा में प्रदर्शित किया गया। चीनी सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने पर चाऊ-एन-लाई ने उत्तर दिया कि दोनों देशों के बीच की सीमा एक-दूसरे के परामर्श से तय की जानी चाहिए। इस तरह का उत्तर पहली बार चीन की ओर से दिया गया।

खुल्लम-खुल्ला विरोध

मार्च, १९५९ में तिब्बत में चीनी सेनाओं के विरुद्ध विद्रोह मचा, और वहाँ के दलाई लामा ने भागकर हिन्दुस्तान में शरण ली। संभव है दलाई लामा को शरण देने की बात चीनी सरकार के नेताओं को खटकी हो, लेकिन भारत जैसे प्रजातन्त्रवादी देश में उनके आगमन पर कैसे रोक लगाई जा सकती थी? ब्रिटेन ने भी स्वदेश छोड़कर भागे हुए कितने ही राजनीतिक नेताओं को पनाह दी है। तभी से लगता है कि चीन ने खुल्लम-

खुल्ला भारत का विरोध शुरू कर दिया। जुलाई, १९५९ में चीनी टुकड़ी का एक सशस्त्र दल लद्दाख में पश्चिमी पर्योग क्षेत्र में घुस आया और स्पांगुर में उसने अपना कम्प बना लिया। नेफा में वे खिनमाने में आ गये और लोंगजू चौकी पर उनका अधिकार हो गया। चाऊ-एन-लाई ने घोषणा की कि सीमा-पंक्ति के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हुआ और ५० हजार वर्गमील भारत की भूमि पर उन्होंने अपना अधिकार बताया। लेकिन पंडित नेहरू ने उत्तर में कहा कि उत्तरी सीमा के प्रश्न पर विचार-विनिमय करने की गुंजाइश इसलिए नहीं है कि भारत की यह सीमा इतिहास, भूगोल, रूढ़ि और परम्परा से सदियों से चली आती है।

भारत और चीन के प्रधानमन्त्रियों के प्रस्ताव

लेकिन भारत सरकार के इन हल्के-फुल्के उत्तरों का चीनी सरकार पर कोई असर न हुआ और २० २१ अक्तूबर, १९५९ को चीनी सैनिक कोंगका दर्रे में घुसकर ५० मील भारत की सीमा में आ पहुँचे। उन्होंने पहरा देने वाली भारत की पुलिस पर गोलीबारी करके नौ आदमियों को ख़त्म कर दिया और कइयों को गिरफ्तार कर लिया। नवम्बर में चाऊ-एन-लाई ने प्रस्ताव उपस्थित किया कि उत्तर-पूर्व में मैकमोहन रेखा से, तथा लद्दाख में वास्तविक नियंत्रण की रेखा से दोनों देशों की सेनाएँ २० २० किलोमीटर पीछे की ओर हट जायें। लेकिन इसका मतलब हुआ कि चीनी सेनाएं लोंगजू खाली करके वापस चली जायें, और इसके बदले में भारतीय सेनाओं को अपना

ही प्रदेश छोड़कर पीछे हटना पड़े। कारण कि लद्दाख क्षेत्र में चीनी सेनाओं ने भारत का बहुत-सा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया था, और इस क्षेत्र के अनेक हिस्सों में वे २० किलोमीटर से आगे भारत की सीमा में घुस आये थे। ऐसी हालत में, पंडित नेहरू ने दूसरा प्रस्ताव रखा कि पूर्वी और मध्य मार्गों में दोनों देशों को, पहरा देने वाली अपनी सेनाओं को न आने देना चाहिए, जिससे कि सीमाप्रान्त में दोनों में संघर्ष न हो जाये। इसके अलावा, उनका सुझाव था कि चीनी सरकार लोंगजू से अपनी सेना हटा ले, तथा भारतीय सेना इस क्षेत्र पर अपना पुन अधिकार न करेगी। पश्चिमी प्रदेश के सम्बन्ध में पंडित नेहरू का कहना था कि भारतीय सेनाएँ लद्दाख में उस रेखा तक पीछे हट जायें जिस पर चीन अपना अधिकार बताता है और इसी तरह चीनी सेनाएँ भारतीय नक्शों में दिखाई हुई परम्परागत सीमा रेखा तक हटकर वापस चली जायें।

समस्या का समाधान नहीं

चाऊ-एन-लाई ने इस प्रस्ताव को स्वीकार न किया, और दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों की, दस दिन के अन्दर, चीन या रंगून में मीटिंग बुलाने का सुझाव पेश किया। पंडित नेहरू ने चाऊ-एन-लाई को बातचीत करने के लिए दिल्ली आमंत्रित किया। अप्रैल में छह दिन तक दिल्ली में दोनों प्रधानमंत्रियों की बातचीत होती रही लेकिन समस्या का कोई समाधान न हो सका। फिर, दोनों सरकारों के अफसरों में जून से दिसम्बर,

१९६० तक पेकिंग, दिल्ली और रंगून में वार्तालाप हुआ और आश्चर्य है कि इस बीच में चीनी सेनाएँ भारत की सीमा में प्रवेश करती रहीं। नेफा के कामेंग प्रदेश में और लद्दाख के हॉट-स्प्रिंग क्षेत्र तक ये सेनाएँ बिना किसी रोकटोक के घुसती चली आयीं।

दोनों सरकारों की ओर से उपस्थित तथ्य

फरवरी, १९६१ में भारत सरकार ने पेकिंग, दिल्ली और रंगून की मीटिंगों की रिपोर्ट प्रकाशित की। इसमें नक्शों, दस्तावेजों यात्रियों के विवरणों और जनगणना आदि के आधार से दोनों देशों के बीच की सीमा निर्धारण के तथ्य उपस्थित किये गये। कुल मिलाकर भारतीय कानूनी दावे को सिद्ध करने के लिए भारत सरकार की ओर से ११४ सबूत पेश किये गये, जबकि चीन की सरकार केवल ४७ ही सबूत पेश कर सकी। इसी प्रकार पश्चिमी मध्य और पूर्वी सीमा के संबंध में परम्परागत और प्रशासन संबंधी आधार को साबित करने के लिए भारत सरकार ने ११६ तथ्य और चीनी सरकार ने कुल १९२ तथ्य प्रस्तुत किये।

चीनी सैनिकों का दखल जारी

यह सब होता रहा और इस बीच में धड़ाधड़ चीनी सैनिक भारतीय सीमा पर दखल करते गये। अगस्त, १९६१ में उन्होंने लद्दाख में च्यागृ के निकट अपनी चौकियाँ और सड़कें बना लीं। अप्रैल, १९६२ में चीन की ओर से भारतीय सेनाओं की

अपनी ही सीमा में उपस्थिति का विरोध किया गया और चीनी सैनिकों ने स्वयं ही समस्त पश्चिमी प्रदेश का पहरा देने की धमकी दी। मई, १९६२ में चीन ने पाकिस्तान के साथ सीमा सम्बन्धी समझौता कर लिया। जुलाई में उन्होंने गेलवान घाटी में भारतीय संरक्षण चौकी को घेर लिया, और सितम्बर में पूर्वी भाग की सीमा को लांघकर वे भारतीय सीमा में घुस आये।

विश्वासघाती हमला

२० अक्टूबर, १९६२ का दिन तो भारत के इतिहास में याद रहेगा जबकि चीनी सनिकों ने बिना किसी पूर्व सूचना के सभी कायदे-कानूनों तथा मित्रता को धता बताकर नेफा और लद्दाख पर विश्वासघाती हमला बोल दिया। और यह हमला अचानक ही ऐसे समय किया गया जबकि भारत सरकार की ओर से शांति स्थापित करने के प्रयत्न जारी थे, और इस संबंध में वार्तालाप करने के लिए चीन को आमन्त्रित किया गया था। चीन के इस हमले को देखकर भारत की जनता का क्षुब्ध हृदय गुस्से से भर गया, और जगह-जगह इस आक्रमण के विरोध में सभाएँ होने लगीं।

चीन के सैनिकों की संख्या भारतीय सैनिकों से कई गुनी थी, और टिड्डी दल की भाँति भारतीय जवानों पर वे टूट पड़े थे। फिर, पिछले अनेक वर्षों के युद्ध का उन्हें अनुभव था, आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से वे लैस थे, शीत ऋतु में हिमाच्छादित पर्वत मालाओं पर रहने का उन्हें अभ्यास था, पर्वत-मालाओं के दुर्गम

स्थानों पर पक्की सड़कें बनाकर उन स्थानों को आवागमन के योग्य उन्होंने बना लिया था। और सबसे बड़ी बात थी कि पूर्ण तैयारी के साथ वे युद्ध के मोर्चे पर आकर डटे थे जब कि भारत चीन को अपना एक पड़ोसी मित्र समझकर, ईमानदारी के साथ, शांतिपूर्ण तरीकों से सीमा-प्रांत के झगड़ों को निबटाने के लिए प्रयत्नशील हो रहा था। वस चीनी सैनिकों ने पहले तो गलवान घाटियों से लगाकर दौलतबेग ओल्डी तक की भारतीय रक्षा-चौकियों पर आक्रमण कर दिया और उसके पश्चात् एक-के-बाद-एक सिरिजाप क्षेत्र, काँगमा हॉट-स्प्रिंग चांग-ला, जर-ला और डेमचोक की चौकियों पर वे अधिकार करते चले गये। ६ नवम्बर से वे स्पांगुर क्षेत्र के आसपास युद्ध की तयारियाँ करते रहे १८ नवम्बर को चुशूल पर दोनों सेनाओं में डटकर युद्ध हुआ, और रेजांग-ला पर चीनी सेना का अधिकार हो गया। लद्दाख के साथ-साथ नेफा भी चीनी आक्रमण का शिकार हुआ तथा कामेंग सुवानसिरि, सियांग और लोहित के अनेक स्थानों पर चीन का कब्जा हो गया। इस प्रदेश में तोवांग बोमडिला और वालोंग आदि क्षेत्रों की रक्षा के लिए घमासान युद्ध मचा।

युद्धबन्दी प्रस्ताव

विश्वासघात और छल-कपट से पूर्ण इस प्रकार के आक्रमण-कारी युद्ध की मिसाल इतिहास में कम ही मिलेगी। खैर, आक्रमण के चार दिन बाद २४ अक्टूबर को युद्धबंदी के लिए चीनी सरकार की ओर से निम्नलिखित प्रस्ताव रखा गया—

(क) चीन भारत की सीमापंक्ति का प्रश्न शांति के साथ समझौते द्वारा तय किया जाना चाहिए, और तब तक दोनों देशों की सशस्त्र सेनाएँ चीन-भारत के समस्त सीमाप्रान्त पर, अपनी-अपनी वास्तविक नियंत्रित रेखा से २० किलोमीटर पीछे हट जायें

(ख) यदि भारत को यह प्रस्ताव मान्य हो तो चीनी सरकार सीमाप्रान्त के पूर्वी भाग में, पहरा देने वाले रक्षक-दल को वास्तविक नियंत्रित रेखा के उत्तर में पीछे हटाने को तैयार है। इसके साथ ही चीन और भारत को यह मंजूर करना पड़ेगा कि दोनों की सेनाएँ, सीमाप्रान्त के मध्य और पश्चिमी मार्गों में वास्तविक नियंत्रित रेखा—परम्परागत प्रचलित मान्य रेखा—का उल्लंघन नहीं करेगी

(ग) चीन भारत के सीमाप्रान्त सम्बंधी प्रश्न का मित्रता-पूर्ण तरीके से सुलझाने के लिए एक बार फिर दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों में वार्तालाप हो।

चीनी सरकार की बात अस्वीकृत

आश्चर्य है कि भारतीय क्षेत्रों पर नृशंस आक्रमण करने के बाद भी चीन शांति और सुलह की बात करने को तयार था। वास्तव में यह मित्रतापूर्ण समझौते की बात नहीं एक प्रकार की धमकी थी और भारत इस धमकी में आने वाला न था। भारत के प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने चीनी सरकार के इस प्रस्ताव को ठुकराते हुए चीनी सरकार से 'वास्तविक नियंत्रित रेखा' के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण मांगा। "क्या यह वह रेखा है जिसका

चीनी सरकार ने सितम्बर मास के प्रारम्भ से ही अपने आक्रमण द्वारा निर्माण किया है ?" पंडित नेहरू ने प्रश्न किया। इसका मतलब हुआ कि पहले तो अपने सैनिक आक्रमण द्वारा चीन ने ४० अथवा ६० किलोमीटर भारत की भूमि पर अधिकार कर लिया, और अब वह अपनी 'वास्तविक नियंत्रित रेखा' से २० किलोमीटर पीछे हटकर वार्ताफल का हाथ बढ़ाना चाहता है! आक्रमणकारी की इस शर्मनाक बात को कोई कैसे स्वीकार कर सकता था? ऐसी हालत में सीमा की पूर्ववत् स्थिति की रक्षा के लिए एक ही शर्त हो सकती थी कि ८ सितम्बर, १९६२ से पहले जहाँ चीनी मौजूद थे, वहीं वापस लौट जायें। वस्तुस्थिति यह है कि ८ सितम्बर, १९६२ के पूर्व चीन के किसी भी सैनिक ने सन् १९१४ की संधि के अनुसार निर्धारित, पूर्वी भाग की भारत-चीन की सीमा का उल्लंघन नहीं किया था। सबसे पहले ८ सितम्बर को इसका उल्लंघन कर चीनी सेना ने ढोला की भारतीय चौकी पर कब्जा किया। इस बात का उल्लेख पंडित नेहरू ने अपने प्रत्युत्तर में किया, और कहा कि चीनी सरकार द्वारा यह शर्त मंजूर कर लिए जाने के बाद ही भारत समझौते की बात में दिलचस्पी ले सकता है। चीन ने जोश में आकर आक्रमण तो कर दिया था लेकिन उसकी समझ में न आ रहा था कि अब पीछे क़दम कैसे हटायें।

९

समझौते की बातचीत

चीनी हमले से भारत का सीमाप्रान्त हमारे वीरों के रक्त से लाल हो उठा था, और उधर शांति के प्रयत्न जारी थे। ४ नवम्बर, १९६२ के पत्र में चाऊ-एन-लाई ने अपने ७ नवम्बर १९५९ के पत्र का हवाला देते हुए बताया कि चीन और भारत के बीच ७ नवम्बर, १९५९ की रेखा को ही वास्तविक नियन्त्रित रेखा समझा जाये। चीनी सरकार के अनुसार पूर्वीय भाग में मुख्य रूप से यह रेखा 'तथाकथित मैकमोहन रेखा' से, तथा पश्चिमी और मध्य भागों में मुख्य रूप से परम्परागत प्रचलित रेखा से मेल खाती है। उपर्युक्त तीन भागों में विभक्त २४ अक्तूबर वाले चीनी प्रस्ताव का यही आधार है।

लेकिन भारत सरकार चीन की इस भूलभुलैया में आनेवाली न थी। यह ऐसी ही बात हुई जैसे कोई कहे कि आज के चार कल के तीन के बराबर हैं और कल के तीन परसों के दो के बराबर। मतलब यह कि २० अक्तूबर, १९६२ के चीनी आक्रमण के पश्चात् स्थापित वास्तविक नियन्त्रित रेखा को, ७ नवम्बर १९५९ की वास्तविक नियन्त्रित रेखा से अभिन्न, तथा इस रेखा को दोनों देशों के बीच परम्परागत प्रचलित सीमा के तौर पर मान्य किया जा रहा था। लेकिन वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल विपरीत थी।

पहले हम पश्चिमी भाग को लें। नवम्बर, १९५९ में पश्चिमी भाग की 'वास्तविक नियंत्रित रेखा' वस्तुतः कोई रेखा नहीं थी—१९५७ से ही भारतीय क्षेत्र में जोर-जबर्दस्ती से चीन ने अपनी कुछ जगहें बना ली थीं, और इससे परम्परागत सीमा की स्थिति बदल गयी थी। जबर्दस्ती से कब्जा की हुई इन जगहों को लौटाने के लिए भारत चीन से बार-बार अनुरोध करता रहा लेकिन लौटाना तो दूर रहा, चीन ने जान-बूझकर ८ सितम्बर, १९६२ से एक और हमला करके भारतीय क्षेत्र के बहुत से स्थानों पर अधिकार कर लिया। थाग-ला दर्रा इस समय पहली बार पार किया गया। और अब वह 'उदार' बनकर प्रस्ताव कर रहा है जिससे कि पहले आक्रमण के समय कब्जा किये हुए स्थानों को तो वह अपने अधिकार में रख ही सके, साथ ही २० अक्टूबर, १९६२ के आक्रमण द्वारा अधिकृत तीन भागों में विभक्त उपर्युक्त प्रस्ताव पर आधारित समझौता करके अन्य स्थानों को भी हथिया ले। नवम्बर, १९५९ में चीनी चौकियाँ स्पांगुर, कुरनाक किला और कांगला दर्रे में, तथा १९५७ में भारतीय प्रदेश में निर्माण की हुई अक्साई चीन सड़क के किनारे बनी हुई थीं। इसके पश्चात् तीन वर्ष के भीतर—सितम्बर, १९६२ तक—चीन ने अनेक सैनिक सड़कें और चौकियाँ इस क्षेत्र में बना डालीं। ऐसी हालत में यदि ७ नवम्बर, १९५९ वाली रेखा वास्तविक नियंत्रित रेखा स्वीकार की जाये तो इसमें केवल १९५९ के बाद स्थापित की हुई चीनी चौकियाँ ही शामिल न होंगी, बल्कि इसमें अक्टूबर, १९६२ के आक्रमण तक जो अन्य ४० चौकियाँ भारतीय सीमा में

बनाई गई है उस पर भी चीन का ही अधिकार समझा जायेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि ७ नवम्बर वाले सुझाव से चीन हमारे देश की और अधिक जमीन पर अधिकार कर लेना चाहता है। फिर, उपर्युक्त चीनी प्रस्ताव को मान लेने पर भारत को अपनी ही सीमा में २० किलोमीटर (साढ़े बारह मील) पीछे हटना पड़ेगा और चीन के २० किलो मीटर पीछे हटने का मतलब है कि भारतीय सीमा के अन्दर ही चीन पीछे हटे (इस सीमा पर चीन अपना अधिकार बताता है), फिर भी चीनी सैनिक भारतीय क्षेत्र के १०० किलोमीटर (साढ़े बासठ मील) क्षेत्र में मौजूद ही रहेंगे। मतलब यह है कि २० अक्टूबर १९६२ तक चीन ने आक्रमण द्वारा जिन चौकियों पर कब्जा कर लिया था वे सब चौकियाँ तथा कुछ अन्य चौकियाँ चीन के अधिकार में बनी जायेंगी, तथा भारतीय क्षेत्र में बनी हुई भारतीय रक्षक-चौकियाँ जिन्हें चीन अपनी कहता है खत्म कर दी जायेंगी, और फिर तो दौलतबेग ओल्दी, चुशूल और हाटसे आदि की मुख्य-मुख्य चौकियाँ भी न रहेंगी।

मध्य भाग की रेखा के सम्बन्ध में चीन के प्रधानमंत्री का कहना है कि 'वास्तविक नियंत्रित रेखा', चाहे वह ७ नवम्बर १९५९ की हो या अब की हो मुख्य रूप में परम्परागत और प्रचलित रेखा से मेल खाती है। लेकिन यह कथन सर्वथा निराधार है। मुख्य हिमालय की जल विभाजक रेखा के दक्षिणी भाग में चीनी सरकार का कभी अधिकार नहीं रहा, यही रेखा इस मध्य भाग की परम्परागत सीमा है। १९५४

में तिब्बत के कुछ अफसर चीनी सेना के साथ बाड़ाहोती में आये, लेकिन १९५८ में भारत और चीन में समझौता होने के बाद दोनों देशों की सेनाएँ यहाँ से हट गयीं। बाद में भारतीय पुलिस के अधिकारी यहाँ आते-जाते रहे।

पूर्वी भाग में चीन अपनी सेनाओं को 'वास्तविक नियंत्रित रेखा' के उत्तर में हटाने को तयार है। चाऊ-एन-लाई के कथनानुसार यह रेखा मुख्य रूप में *मकमोहन रेखा (चीनी सरकार द्वारा मान्य मैकमोहन रेखा—लेखक)* से मेल खाती है। लेकिन वास्तविकता यह है कि चीन की पोजीशन यहाँ हमेशा से हिमालय की शृंखलाओं के उत्तर में रही है तथा मैकमोहन रेखा के सम्बन्ध में चीन की ओर से कभी विवाद उपस्थित नहीं किया गया। अब विभाजक सीमा के इस क्षेत्र के आसपास चीन के लोग न तो नवम्बर, १९५९ में और न उसके बाद ८ सितम्बर, १९६२ तक कभी रहे, सितम्बर, १९६२ में ही पहली बार उन्होंने भारत के इस प्रदेश पर आक्रमण किया। चीनी सरकार का प्रस्ताव है कि दोनों सेनाएँ मकमोहन रेखा के २० किलोमीटर पीछे हट जायें। इसका मतलब हुआ कि जिन दर्रों से चीन के सनिक भारत में प्रवेश करते हैं, वे सब दर्रे (थागला को मिलाकर) चीन के हाथ में पहुँच जायेंगे और भारतीय सेनाओं के दक्षिण की ओर २० किलोमीटर पीछे हटने से भारत का समस्त सीमाप्रांत नये आक्रमण के लिए खुल जायेगा। ८ सितम्बर, १९६२ को चीन ने जो आक्रमण किया, वह इसलिए शात हो सका कि सीमाप्रान्त के पास रक्षक-चौकी मौजूद थी। अब

यदि दर्रों पर अथवा दर्रों के नजदीक सीमाप्रान्त की चौकियाँ न होंगी तो भविष्य में किसी आक्रमण का पता लगना भी कठिन होगा।

इस प्रकार भारत सरकार द्वारा चीन का तीन भागों में विभक्त उपयुक्त प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिये जाने पर चीन ने १५ नवम्बर से १९ नवम्बर के बीच अपना विश्वासघाती हमला और तेज कर दिया, और फिर एकदम एकपक्षीय घोषणा कर दुनिया की आँखों में धूल झोंकना चाहा कि २१ नवम्बर, १९६२ की रात के १२ बजे लड़ाई बंद कर दी जायेगी, तथा १ दिसम्बर, १९६२ से चीनी सीमाप्रान्त का रक्षक दल पश्चिमी और मध्य भागों में ७ नवम्बर, १९५९ के दिन मान्य चीन और भारत के बीच वास्तविक नियंत्रित रेखा के तथा पूर्वी भाग में गैर-कानूनी मैकमोहन रेखा के २० किलोमीटर पीछे हट जायेगा। इस घोषणा में वास्तविक नियंत्रित रेखा की ओर अनेक स्थानों पर जांच करने वाली चौकियाँ बनाने आदि का भी उल्लेख किया गया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि चीन की यह एकपक्षीय घोषणा शांति का प्रस्ताव न था, बल्कि एक धमकी थी जिसमें कहा गया था कि या तो भारत हमारी शर्त स्वीकार करे नहीं तो हम युद्ध बन्द नहीं करेंगे। जाहिर है कि अपनी मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा के रक्षक किसी भी स्वाभिमानी राष्ट्र को यह शर्त स्वीकार नहीं हो सकती थी। हमने चीन की सीमा में जाकर लड़ाई नहीं की, बल्कि चीन ने लड़ाई करके हमारी जमीन पर कब्जा किया। चीन के उक्त प्रस्ताव तथा

युद्धविराम की एकपक्षीय घोषणा का अर्थ ही यह है कि उन क्षेत्रों पर भौतिक अधिकार प्राप्त कर लेना जो क्षेत्र ७ नवम्बर १९५९ को अथवा ८ सितम्बर, १९६२ के पूर्व कभी भी चीन के अधिकार में नहीं थे। और इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने पर भारत की सीमा सम्बन्धी मान्यता कायम नहीं रह सकती थी। ऐसी हालत में चीन जब तक अपने हमले द्वारा कब्जा किये हुए प्रदेश को वापस नहीं कर देता तब तक उससे समझौते की कोई बात नहीं की जा सकती।

१९ नवम्बर, १९६२ को चीन के प्रधानमन्त्री ने एशिया और अफ्रीका की कुछ सरकारों के पास चीनी नक्शे भिजवाये, इनमें भी ७ नवम्बर, १९५९ की रेखा को ही वास्तविक नियंत्रित रेखा बताया गया। इन नक्शों में वे स्थान दिखाये गये हैं जहाँ कि चीनी सेनाएँ २० अक्टूबर, १९६२ के आक्रमण के बाद पहुँच गई थीं। २८ नवम्बर को चाऊ-एन-लाई ने पंडित नेहरू को पत्र लिखा जिसमें २१ नवम्बर की घोषणा के सम्बन्ध में कहा गया कि चीनी सीमा रक्षक आत्म रक्षा के हेतु लड़े हुए युद्ध में जहाँ तक पहुँच गये हैं, केवल उन्हीं क्षेत्रों को वे खाली न करेंगे, बल्कि ८ सितम्बर अथवा २० अक्टूबर, १९६२ को जहाँ वे थे, उससे बहुत पीछे हट जायेंगे। लेकिन वास्तविकता यह है कि ७ सितम्बर, १९६२ को भारत और चीन के बीच सम्पर्क रेखा की अपेक्षा, जिस रेखा तक चीन ने वापस हटने का प्रस्ताव रखा है, उस रेखा के कुछ स्थान भारतीय सीमा के अन्दर ही पड़ते हैं। और यह वास्तविकता है कि जिस रेखा तक चीन ने पीछे हटने का प्रस्ताव किया है,

उस रेखा के अन्य स्थान चीनी सैनिकों को ७ सितम्बर, १९६२ की रेखा के पूर्व तक ले आयेंगे। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने पर भारत की उन अनेक रक्षक-चौकियों पर चीन का अधिकार हो जायेगा, जिन पर उसने अपने २० अक्टूबर के हमले के समय कब्जा किया है। दूसरी ओर, जैसे कहा जा चुका है, भारतीय सेनाओं को अपने ही प्रदेश में २० किलोमीटर पीछे हटना पड़ेगा, और यह ऐसा प्रदेश है जिसे स्वयं चीन ने भी भारत का प्रदेश माना है। मुख्य बात यह है कि यदि चीन द्वारा घोषित लड़ाईबंदी तथा चीनी सेनाओं के पीछे हटने के सम्बन्ध में भारत सरकार को अपनी राय कायम करना ही है तो सबसे पहले उसे यह जान लेना आवश्यक होगा कि ७ नवम्बर १९५९ की वास्तविक नियंत्रित रेखा कौन-सी है, और स्पष्ट है कि इस प्रश्न का अपने तथाकथित अधिकारों के आधार पर, चीनी सरकार द्वारा एकांगी रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता।

अनावश्यक पत्र-व्यवहार